दूसरी आज़ादी

दूसरी आज़ादी

रामकुमा   भर

दूसरी आज़ादी

इस पुस्तक के बारे में

इतिहास का चक्र कायदे से चलना तो यों चाहिए था कि राजनीतिक आजादी के बाद आर्थिक व सामाजिक आजादी का सपना साकार होता, लेकिन राजनीतिक आजादी के बाद निहित स्वार्थ के लोग सत्ता के आस-पास गोलबन्द होते गए। यथास्थितिवाद और उनके निहित स्वार्थ का रिश्ता धीरे-धीरे अटूट होता चला गया। तथा परिवर्तनवादी घोषणाओं और नारों का लक्ष्य यथास्थितिवाद की रक्षा करना-मात्र बना रह गया। धीरे-धीरे स्वातंत्र्यपूर्व की चेतना बुझ गई। तेजस्वी, सेवाभावी और कर्मठ लोग सत्तालोलुप, स्वार्थी और कैरियरिस्ट राजनेताओं द्वारा किनारे फेंक दिए गए। समाज-जीवन के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में जड़ता की जकड़न व्याप्त हो गई।

इसी पृष्ठभूमि में लोकनायक श्री जयप्रकाश ने समग्र क्रांति का दर्शन दिया। तरुणाई परिवर्तन का परचम लेकर लोक-संघर्ष के रास्ते पर बढ़ चली। यथास्थितिवाद के अजेय दुर्ग टूटने को आ गए। इस पृष्ठभूमि में यथास्थितिवाद के रक्षक संयुक्त मोर्चे ने श्रीमती गांधी के नेतृत्व में आपातस्थिति लगाकर लाखों नेताओं, कार्यकर्ताओं और संघर्ष में लगे लोगों को जेलों में बन्द कर नागरिक स्वतंत्रताओं का हनन कर डाला। पारिवारिक तानाशाही अपने नग्न रूप में सामने आई। नतीजा यह हुआ कि हमें आजादी की लड़ाई एक दूसरे रूप में फिर से लड़नी पड़ी।

लोकनायक श्री जयप्रकाश के नेतृत्व, लाखों कार्यकर्ताओं के त्याग व बलिदान और देश के निरक्षर से निरक्षर समाज की सुशिक्षित चेतना के कारण तानाशाही पराजित हुई। उसमें बाबू जगजीवनरामजी का योगदान भी उल्लेखनीय है।

यह सही है कि सामान्य जन, बुद्धिजीवी और गैर-कांग्रेसी विपक्षी दलों के कार्यकर्ताओं को भीषण यातनाएं भुगतनी पड़ी लेकिन मुझे लगता है कि इतने महान परिवर्तन के लिए चुकाया गया यह मूल्य अधिक नहीं था। इस विराट्

परिवर्तन की यह सामान्य कीमत ? ···निश्चय ही अपने देश के समाज-जीवन में कोई तर्कातीत तर्क (Super logic) कार्यरत रहा है। देश के प्रतिभाशाली लेखकों की ओर मैं इस आशा से देखा करता हूं कि वे इस 'सुपरलॉजिक' की चीरफाड़ अपनी लेखनी से करें।

लेखनी राजनीति की मुखापेक्षी न हो, साहित्यकार राजनीति के कृपाकांक्षी न बनें, पत्रकार निर्भीक टीका-टिप्पणी करने के काम में किसी 'कमजोरी' या संकोच को कारण न बनने दें तभी इस युगान्तरकारी परिवर्तन की महत् संभावनाओं को साकार रूप दिया जा सकता है। वरना आप जानते हैं कि राजनेता किस मिट्टी के बने होते हैं, कुर्सी उन्हें कैसे कैदी बना देती है, वाह-वाह के नारे क्रमश: कैसे ढोंगी होते जाते हैं, न्यस्त स्वार्थों की घेराबन्दी कितनी ताकतवर होती जाती है।

श्री रामकुमार भ्रमर से मेरी भेंट पहली बार प्रिय श्री दीनानाथ (संपादक 'पांचजन्य') के यहां १९७०-७१ में हुई थी। बातचीत के दौरान मैंने पाया था कि भ्रमर स्वतंत्रचेता लेखक हैं और उस समय में जबकि अधिकतर बुद्धिजीवी सत्ता की कृपाकांक्षा से सत्य की प्राप्ति के लिए होने वाले संघर्ष का स्वर दबाए हुए थे, भ्रमर काफी स्पष्टवादी लगे। बाद में उनकी कई कृतियां मेरे देखने-पढ़ने में आईं और मुझे अच्छा लगा कि वे देश-समाज के प्रति जागरूक और सतर्क रहकर सोचते-लिखते हैं।

यह हो सकता है कि 'दूसरी आजादी' में श्री रामकुमार भ्रमर के विश्लेषण से मैं कहीं, किसी-किसी जगह सहमत न होऊं, लेकिन मोटे तौर पर इस पुस्तक को पढ़ने के दौरान मैं श्री भ्रमर के दृष्टिकोण से समानुभूति महसूस करता हूं। मुझे लगता है कि किसी भी देश का साहित्यकार उस देश के समाज, संस्कृति और विचारों का इतिहासलेखन ही नहीं करता, भविष्य-द्रष्टा भी होता है। वह गुण-दोषों का विवेचन करता है और सत्य का सनातन प्रहरी होता है। शाश्वत मानवीय मूल्यों का रखवाला भी।

पिछले तीस वर्षों के ही नहीं, बल्कि इस सम्पूर्ण शताब्दी के इतिहास में आपातस्थिति के ये २० महीने अनहोनी घटनाओं से इतने लदे-बदे रहे हैं और इसने भारत के सामान्य जीवन और सोच-समझ में इतना युगान्तरकारी परिवर्तन किया है कि साहित्य, इतिहास, दर्शन और समाजशास्त्र के अनमोल ग्रन्थों की क्रान्तिकारी लहर पैदा हो सकती है। मुझे विश्वास है कि इस दृष्टि से भ्रमरजी की तरह अन्य स्वतंत्रचेता लेखक भी रचनाएं देंगे।

७ अप्रैल, १९७७
नई दिल्ली

—नाना देशमुख

लेखकीय

२६ जून, १९७५ ! एक ऐसा दिन, जब स्वतंत्रता के सूरज पर गुलामी की कालिख पोत दी गई। किसने की यह गुस्ताखी ? हमारे अपनों ने और अपनों के लिए दर्द से ज्यादा तकलीफदेह कुछ नहीं होता। सारे देश ने यह दर्द भोगा है और लोकनायक जयप्रकाशजी के नेतृत्व में अहिंसात्मक शिष्ट शान्ति से इसका उपचार भी कर लिया है, किन्तु यह कसक कभी नहीं जाएगी और इतिहास का एक कटु स्मरण बनी रहेगी।

जयप्रकाशजी के बिहार-आन्दोलन ने स्वतंत्रता के बाद पहली बार प्रजातंत्र की आड़ में धीमे-धीमे देश को ग्रस रहे राजतंत्र को चेतावनी दी थी और इस चेतावनी तथा पूर्ण अहिंसात्मक आन्दोलन ने युवा-शक्ति को संगठित रूप में लोकतंत्र की रक्षा के लिए सन्नद्ध किया था। परिणाम हुआ राजतंत्र का मुखौटा उलट जाना और उसके नितांत व्यक्तिवादी घिनौने रूप का उजागर होना। यह रूप था—इमरजेंसी !

इस इमरजेंसी ने भारतीय इतिहास को कुछ नारे दिए, नये अर्थ दिए। इमरजेंसी में लाचार देश की गरीबी और जन-शान्ति को नाम दिया गया—अनुशासन। मानसिक और वैचारिक हत्याओं को प्रचारित किया गया–प्रशासन। निर्माण के नाम पर व्याप्त नंगे भ्रष्टाचार का अर्थ हो गया—सत्ता। ब्यूरोक्रेसी कहलाई—व्यवस्था। तानाशाही का अर्थ हुआ—लोकतंत्र। कुर्सियों के मोह का नाम हुआ देश का आपातकाल ! शब्दों की यह नई और दुखद परिभाषा जून १९७५ में लागू हुई और इस परिभाषा को मनवाने का क्रम चला पूरे बीस माह।

मुझे एक घटना याद आती है, बड़ी साधारण-सी घटना है, किन्तु लगता है कि बीस माहों की भयानक उत्पीड़न-भरी गुलामी की भूमिका में यह घटना आज अचानक महत्त्वपूर्ण हो उठी है। लगता है जैसे उस समय के आने के पूर्व ही

परिवर्तन की यह सामान्य कीमत ?…निश्चय ही अपने देश के समाज-जीवन में कोई तर्कातीत तर्क (Super logic) कार्यरत रहा है। देश के प्रतिभाशाली लेखकों की ओर मैं इस आशा से देखा करता हूं कि वे इस 'सुपरलॉजिक' की चीरफाड़ अपनी लेखनी से करें।

लेखनी राजनीति की मुखापेक्षी न हो, साहित्यकार राजनीति के कृपाकांक्षी न बनें, पत्रकार निर्भीक टीका-टिप्पणी करने के काम में किसी 'कमजोरी' या संकोच को कारण न बनने दें तभी इस युगान्तरकारी परिवर्तन की महत् संभावनाओं को साकार रूप दिया जा सकता है। वरना आप जानते हैं कि राज-नेता किस मिट्टी के बने होते हैं, कुर्सी उन्हें कैसे कैदी बना देती है, वाह-वाह के नारे क्रमशः कैसे ढोंगी होते जाते हैं, न्यस्त स्वार्थों की घेराबन्दी कितनी ताकत-वर होती जाती है।

श्री रामकुमार भ्रमर से मेरी भेंट पहली बार प्रिय श्री दीनानाथ (संपादक 'पांचजन्य') के यहां १९७०-७१ में हुई थी। बातचीत के दौरान मैंने पाया था कि भ्रमर स्वतंत्रचेता लेखक हैं और उस समय में जबकि अधिकतर बुद्धि-जीवी सत्ता की कृपाकांक्षा से सत्य की प्राप्ति के लिए होने वाले संघर्ष का स्वर दबाए हुए थे, भ्रमर काफी स्पष्टवादी लगे। बाद में उनकी कई कृतियां मेरे देखने-पढ़ने में आईं और मुझे अच्छा लगा कि वे देश-समाज के प्रति जागरूक और सतर्क रहकर सोचते-लिखते हैं।

यह हो सकता है कि 'दूसरी आजादी' में श्री रामकुमार भ्रमर के विश्लेषण से मैं कहीं, किसी-किसी जगह सहमत न होऊं, लेकिन मोटे तौर पर इस पुस्तक को पढ़ने के दौरान मैं श्री भ्रमर के दृष्टिकोण से समानुभूति महसूस करता हूं। मुझे लगता है कि किसी भी देश का साहित्यकार उस देश के समाज, संस्कृति और विचारों का इतिहासलेखन ही नहीं करता, भविष्य-द्रष्टा भी होता है। वह गुण-दोषों का विवेचन करता है और सत्य का सनातन प्रहरी होता है। शाश्वत मानवीय मूल्यों का रखवाला भी।

पिछले तीस वर्षों के ही नहीं, बल्कि इस सम्पूर्ण शताब्दी के इतिहास में आपातस्थिति के ये २० महीने अनहोनी घटनाओं से इतने लदे-बदे रहे हैं और इसने भारत के सामान्य जीवन और सोच-समझ में इतना युगान्तरकारी परि-वर्तन किया है कि साहित्य, इतिहास, दर्शन और समाजशास्त्र के अनमोल ग्रन्थों की क्रान्तिकारी लहर पैदा हो सकती है। मुझे विश्वास है कि इस दृष्टि से भ्रमरजी की तरह अन्य स्वतंत्रचेता लेखक भी रचनाएं देंगे।

७ अप्रैल, १९७७
नई दिल्ली

—नाना देशमुख

लेखकीय

२६ जून, १९७५ ! एक ऐसा दिन, जब स्वतंत्रता के सूरज पर गुलामी की कालिख पोत दी गई। किसने की यह गुस्ताखी ? हमारे अपनों ने और अपनों के लिए दर्द से ज्यादा तकलीफदेह कुछ नही होता। सारे देश ने यह दर्द भोगा है और लोकनायक जयप्रकाशजी के नेतृत्व मे अहिंसात्मक शिष्ट क्रान्ति से इसका उपचार भी कर लिया है, किन्तु यह कसक कभी नही जाएगी और इतिहास का एक कटु स्मरण बनी रहेगी।

जयप्रकाशजी के बिहार-आन्दोलन ने स्वतंत्रता के बाद पहली बार प्रजातंत्र की आड मे धीमे-धीमे देश को ग्रस रहे राजतंत्र की चेतावनी दी थी और इस चेतावनी तथा पूर्ण अहिंसात्मक आन्दोलन ने युवा-शक्ति को संगठित रूप से लोकतंत्र की रक्षा के लिए सन्नद्ध किया था। परिणाम हुआ राजतंत्र का मुखौटा उलट जाना और उसके नितांत व्यक्तिवादी घिनौने रूप का उजागर होना। यह रूप था—इमरजेंसी !

इस इमरजेंसी ने भारतीय इतिहास को कुछ नारे दिए, नये अर्थ दिए। इमरजेंसी मे लाचार देश की गरीबी और जन-शान्ति को नाम दिया गया— अनुशासन। मानसिक और वैचारिक हत्याओ को प्रचारित किया गया—[illegible] निर्माण के नाम पर व्याप्त नंगे भ्रष्टाचार का अर्थ हो गया—सेवा। [illegible] कहलाई—व्यवस्था। तानाशाही का अर्थ हुआ—लोकतंत्र। [illegible] का नाम हुआ देश का आपातकाल ! शब्दो की यह नई और दुष्ट परिभाषा जून १९७५ मे लागू हुई और इस परिभाषा को मनवाने का क्रम चला [illegible] बीस माह।

मुझे एक घटना याद आती है, बडी साधारण-सी घटना है, किन्तु लगता है कि बीस माहो की भयानक उत्पीडन-भरी गुलामी की भूमिका मे यह घटना [illegible] अचानक महत्वपूर्ण हो उठी है। लगता है जैसे उस समय के आने के पूर्व ही

बहुत हद तक यह संकेत मिलने लगा था कि सत्ता का राजतंत्री मुखौटा किसी भी स्तर पर उतरकर कुर्सी-रक्षा प्रारंभ कर देगा। दो-चार राजनीतिक मित्रों से चर्चा भी की थी कि संभवतः इन्दिरा-शासन उस स्तर पर आ सकता है, किन्तु उन मित्रों का विचार था कि वैसा नहीं होगा।

१६७५ प्रारंभ या '७४ के अंत की बात है, मुझे ग्वालियर में विद्यार्थी परिषद् के संभागीय सम्मेलन का उद्घाटन करने के लिए बुलाया गया। जयप्रकाशजी का आन्दोलन काफी कुछ जोर पकड़ चुका था और सारे देश में ही युवा-शक्ति जाग्रत् हो चुकी थी। उसी दौर की बात है। विद्यार्थी परिषद् के युवक दोस्तों से अपनी भाषणनुमा बातचीत में मैंने कहा कि सत्य और लोकतंत्र के लिए सन्नद्ध होकर सभीको जयप्रकाश बाबू के आन्दोलन का अंश बनना चाहिए और अपनी क्रियात्मक शक्ति को पूर्ण अनुशासन, निष्ठा और अहिंसात्मक ढंग से आन्दोलन में जोड़कर सत्ता-परिवर्तन की मांग करनी चाहिए। सहज भाव से मन की बातें कहकर मैं घर चला आया। लगभग एक घण्टे बाद ही एक उच्चाधिकारी (जिलास्तर) का बुलावा आ पहुंचा। यह सज्जन मेरी पुस्तकों के पाठक भी थे और उनसे मेरे खासे पारिवारिक सम्बन्ध भी थे। जब वहां पहुंचा तो देखा वे काफी गंभीर हैं। वे बोले कि बैठूं। चाय का आर्डर देकर कुछ सोचते हुए उन्होंने बात शुरू की, "सुना है, आप अभी-अभी विद्यार्थी परिषद् के फंक्शन में गए थे?"

"गया तो था।" मैं बोला, पर चकित हुआ। यह तो कोई कारण नहीं हुआ बुलावे का? सोच ही रहा था कि उनका दूसरा प्रश्न आ गिरा, "खबर है कि आपने वहां लड़कों को भड़काया है?"

मैं हैरान। पूछा, "भड़काया है? वह किस तरह?"

"यही कि जयप्रकाशजी के आन्दोलन में हिस्सा लो, तोड़फोड़ करो, ऊधम मचाओ...."

मुझे झल्लाहट आ गई, "किसीने आपको गलत-सलत बतलाया है। मैंने तो सिर्फ यह कहा था कि लोकतंत्र के लिए अहिंसात्मक आन्दोलन में भाग लेना चाहिए!...और यह सभीका लोकतंत्रीय अधिकार है। आप बिलकुल उलटी बात कर रहे हैं!"

वह सहज हुए, "देखिए रामकुमारजी, आप हैं लेखक। इस शहर में आपको रहना है। सुना है कि जल्दी ही आप अपनी फिलम की शूटिंग भी यहीं—

यहीं करनेवाले हैं, आपको उसमें शासन की सहायता भी चाहिएगी···और अगर आपका यही ऐटीट्यूड रहा तो···"

"तो आप मुझे बोर करेंगे···यही ना ?" मैंने चिढ़कर कहा।

"नहीं, ऐसी बात नहीं है···" वह बोलते-बोलते कुछ हिचके, "अमन में मैं किसी किस्म की खुराफात नहीं चाहता···"

"आप लोकतंत्री नागरिक-अधिकार को खुराफात कह रहे हैं ?···" मैं ज्यादा ही झुंझला गया। सहसा मैंने सवाल किया, "सच कहिए मिस्टर···यह आप कह रहे हैं या आपकी नौकरी···मेरा मतलब है—कुरसी ?"

वह निराश स्वर में बोले, "क्या कहूँ भाई ! करना पड़ता है।"

तो इस 'करना पड़ता है' की लाचारी ने क्रमशः फैल रहे राजतंत्र को दमनकारी शक्तियां दे दीं। यहां उक्त घटना का बयान-मात्र इस कारण कर रहा हूँ कि लोकतंत्री शक्ति को कुचलने के लिए इमरजेंसी से पूर्व भी पूरी शक्ति लगाई जा रही थी, किन्तु जब जन-असंतोष को इस चुप्पे दमन-चक्र से नहीं दबाया जा सका तो देश के आपातकाल का बहाना लेकर एक भयावह गुलामी ही जनता पर थोप दी गई। रातोंरात लाखों गिरफ्तारियां हुईं। शीर्षस्थ जननेता जेलों में पहुंचा दिए गए। उन्हें कष्ट दिया गया। प्रेस सेंसरशिप से सत्य का गला घोंट डाला गया। कई छात्र, सामाजिक कार्यकर्ता, विचारशील अधिकारी, पत्रकार, लेखक-कलाकार अनजानी जगहों पर या तो कैद कर दिए गए या फिर नजरबन्द हो गए। और फूहड़ ढंग से प्रचार करके जन-साधारण को यह बात समझाने की कोशिश की जाने लगी कि यह सब देशहित में हो रहा है।

इमरजेंसी की आड़ में संविधान में ४२वां संशोधन करके उसकी मूल आत्मा का हनन कर डाला गया।

यह सब कैसे, क्यों, किसकी भूल, शरारत अथवा लाचारी से होता रहा यह विश्लेषण बाद की बात है, पर यह सब हुआ। भारत में ब्रिटिश राज की गुलामी के बाद प्रजातंत्र और समाजवाद का बुरका ओढ़कर जिस भारतीय साम्राज्यवाद का प्रारंभ हुआ, उसकी कहानी किसी उपन्यास से कम रोचक, रोमांचक और मार्मिक नहीं है और 'दूसरी आज़ादी' इसका लेखा-जोखा है।

दमन और गुलामी के उन्नीस माहों का यह इतिहास संभवतः उस सबको नहीं बटोर पाएगा, जितना कुछ हुआ है, पर मैंने कोशिश की है कि इसमें क्रमवार वह सब आए, जिसे मानसिक, शारीरिक और सैद्धांतिक रूप से मेरे देश के

आदमी ने झेला है। इस पुस्तक में विभिन्न घटनाएं, संस्मरण और लोगों के इन्टरव्यू संकलित हैं। इसमें बहुत-से वे पात्र भी हैं, जिन्होंने मुगल सम्राटों के सूबेदारों की तरह राज्यों में व्यवहार किया, वे लोग भी हैं, जिन्होंने अपने स्वार्थों के समझौते करके जयचन्दों की तरह अपनों से अपनों को ही गुलाम बनवाने की प्रक्रिया में भाग लिया, वे नगर-सेठ भी हैं, जिन्होंने व्यावसायिक स्वार्थों के लिए मानव-धर्म बेचने में भी लज्जा महसूस नहीं की। वे बुद्धिजीवी कलाकार, लेखक, पत्रकार भी हैं जिन्हें कोई भी देश राष्ट्रीय नैतिकता और मानव-अधिकारों की जन्मपत्रियां रचने का अधिकार देता है, और जिनकी बुद्धि से पीढ़ियां अपने अन्धेरे दूर करती हैं। यह पुस्तक एक हिसाब है, एक शीशा, जो हम सभीको अपने-अपने चेहरे दिखाने की कोशिश करती है।

आपातकाल की सबसे बड़ी देन है—अपनी और दूसरों की पहचान। अपने गुण-दोषों का लेखा-जोखा करना। यह पहचान किसी अगली गुलामी से बचाएगी, पर शर्त यही है कि हम अंग्रेजों के बाद दूसरी गुलामी की गिरफ्त में कैसे आए, कौन लाया, किन कमज़ोरियों के कारण यह सब हुआ—उसे समझें। और अगर यह पुस्तक मेरे किसी एक भी पाठक को अपनी पहचान करवा सकी, तो मेरा श्रम सफल होगा।

असल में हर इतिहास, सही-गलत, गुण-दोष समझने का एक संदर्भ-ग्रंथ होता है। इस पुस्तक को इसी ढंग से लिया जाना चाहिए।

—रामकुमार भ्रमर

१३/१४, रामजस रोड,
करौलबाग, नई दिल्ली-११०००५

आपत्ति-काल के नाम से थोपी गई और सुधारवाद के नाम से प्रचारित की गई गुलामी के समय की बात करने से पूर्व राजनीतिक मूल्यों की बात करना अनिवार्य है। राजनीति शब्द को लेकर एक भ्रांति शायद भारत ही नहीं, सारी दुनिया में फैली हुई है। यह कि अंग्रेजी कहावत—'ऐवरी थिंग इज फेयर इन लव एण्ड वार' की तरह राजनीति में भी नैतिक मूल्यों का कोई बन्धन नहीं है। विभिन्न देशों के अपने सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार हो सकता है कि इस तरह की बात उनके अपने यहां सही हो, पर भारत में ऐसा नहीं है। भारतीय संस्कृति और ग्रंथों ने अपने-आपको कभी इतना सीमित, संकुचित और कंजूस नहीं बनाया कि वह केवल भौगोलिक सीमारेखाओं की चीज बनकर रह जाएं। समूची भारतीय संस्कृति और ग्रंथों ने अपनी रचना शाश्वत मानवीय मूल्यों के आधार पर की है, तब मुझे नहीं लगता कि भारतीय राजनीति नैतिक मूल्यों से बरी हो सकती है।

जैसा कि होता रहा है, समय-समय पर भारत के सामाजिक, नैतिक, मानवीय मूल्यों को नष्ट-भ्रष्ट करने वाले विचारक, प्रशासक या हमलावर बाहर से आए, किन्तु भारत ने ऐसे लोगों को या तो अपनी बुनियादी नैतिकता और शक्ति से उखाड़ फेंका अथवा उन्हें अपने ही अन्त में आत्मसात् कर लिया। ऐसे संक्रान्तिकालों में समय-समय पर इस देश में विचारक, नेता, विद्वान और संत पैदा हुए, जिन्होंने मूल्यों के बिखराव को समेटा और बिगड़े हुए को पुनः सवारा।

भारतीय राजनीति के आकाश में महात्मा गाधी का उदय ऐसे ही संक्रान्ति-काल में हुआ था और उन्होंने कांग्रेस के माध्यम से राजनीति को भी मानवीय और नैतिक आधार दिया था। इस तरह कांग्रेस—जिसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सैकड़ों साल पुरानी जड़ें खोद डाली—मूलत: सैद्धांतिक और मानवीय मूल्यों

का राजनीतिक दल रहा। उस समय कांग्रेस का एकमात्र लक्ष्य था—अंग्रेजों से देश को मुक्त कराना। मुक्ति के इस जबरदस्त संघर्ष और अहिंसात्मक आंदोलन का आधार भी नैतिक मूल्य ही थे। मानवीय मूल्यों की राजनीति थी। निःसन्देह कांग्रेस की उस समय की राजनीति के मूल में मानवतावाद पहले था। किन्तु वैसी स्थिति स्वतंत्रता के बाद नहीं रही। कांग्रेस गांधीजी के प्रभाव से क्रमशः मुक्त होती गई। यह बहस की बात है कि गांधीजी ने स्वयं कांग्रेस को मुक्त किया अथवा कांग्रेस ने ही उन्हें अपने-आपसे मुक्त कर दिया, पर इतना सच है कि देश की आज़ादी के फौरन बाद ही कांग्रेस का अस्तित्व ज्यादा प्रभावशाली हो गया था और उसे नैतिक, सैद्धांतिक और मानवीय मूल्य देने वाले संत का कम। इस कमी को बहुत-से लोगों ने गांधी की कमजोरी माना है, और बहुत-से लोगों ने गांधी की विरक्ति। बहरहाल यह सच है कि कांग्रेस अब वह संस्था नहीं रह गई थी, जिसका लक्ष्य विदेशी से लड़कर मुक्ति पाना था, बल्कि कांग्रेस का लक्ष्य हो गया था भारतीय राजनीति में येन-केन प्रकारेण सत्तारूढ़ रहना। सत्तावाद की इस राजनीति ने क्रमशः एक पवित्र संस्था के भीतर से उन मूल्यों को तोड़ना-मरोड़ना या दरकिनार करना प्रारंभ कर दिया, जो किसी भी लक्ष्य तक पहुंचने के लिए नैतिक रूप से सबसे कारगर और ईमानदार तरीके हो सकते थे।

श्री जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस में प्रभाव की राजनीतिक विरासत महात्माजी से पाई थी, किन्तु गांधी और नेहरू दोनों में वैयक्तिक अंतर था—अपनी तरह के राजनीतिज्ञ होने का। एक ओर गांधीजी एकदम सैद्धांतिक और मूल्यवादी राजनीति के विचारक थे, दूसरी ओर नेहरूजी उस तरह की सैद्धांतिक और मूल्य-बंधनों की राजनीति में अपने-आपको बंधित नहीं पाते थे। वैयक्तिक विश्लेषण किया जाए तो संभवतः इसका कारण था, गांधी और नेहरू का अपना-अपना सामाजिक परिवेश। एक ओर गांधी यदि नितांत भारतीय संस्कारिता और समाज की देन थे, दूसरी ओर नेहरू पूर्णतः पाश्चात्य संस्कारिता और सामाजिकता में पले-बढ़े थे। इस तरह कांग्रेस में दूसरे प्रभावशाली व्यक्ति का उदय इतना ताकतवर हुआ कि धीमे-धीमे कांग्रेस उन मानवीय मूल्यों से अजाने ही हटती चली गई, जिन्हें कभी गांधी ने कांग्रेस में स्थापित किया था।

स्वतंत्रता के बाद की कांग्रेस, एक नई कांग्रेस थी, जो निश्चित रूप से गांधीवादी कही जाती थी, किन्तु थी नहीं। यह कांग्रेस का संक्रमणकाल था।

एक महान संस्था, जो अंग्रेज़ों की दासता से देश की मुक्ति का पूरा संघर्ष-युग अपने साथ बटोरे हुए थी, अचानक ही स्वतंत्रता के पश्चात् भीतरी तौर पर संघर्षशील हो गई। ठीक है कि कांग्रेस स्वतंत्र भारत की सत्ता सम्भाले हुए थी, किन्तु भीतर ही भीतर वह जर्जर होने लगी थी। कारण था —संस्था के भीतर ही दो विचारों का संघर्ष। एक ओर नेहरू स्वयं और उनके हामी, उनकी तरह सोचने वाले थे, दूसरी ओर नितान्त गांधीवादी यथा बाबू राजेन्द्रप्रसाद, श्री मोरारजी भाई, जगजीवनराम, आचार्य कृपलानी आदि थे। कांग्रेस के विघटन की कहानी सामान्यतः व्यक्तियों के विघटन और स्वार्थों के कारण टकराव की कहानी कही जाती रही है, हो सकता है कि बाद में ऐसा हुआ भी हो, किन्तु स्वतंत्रता के तुरन्त बाद जिस तरह धीमे-धीमे कांग्रेस विघटन की ओर बढ़ रही थी, तब वैसी कोई बात नहीं थी। मूल बात थी सोचने-समझने के तरीकों की लड़ाई। मूल्यों का संघर्ष !…एक ओर जवाहरलाल नेहरू का कल्पनाशील समाजवाद और जन्मशील संस्कारों से सोचना था, दूसरी ओर वे लोग थे, जो गांधीवाद के नितांत भारतीय अनुयायी थे। किन्तु कांग्रेस संस्था की गहरी जड़ों, पूर्वज नेताओं के आदर्शवाद और अनुशासन की दृढ़ता ने बहुत लम्बे अर्से तक भीतर ही भीतर सुलगते हुए इस विद्रोह को जनता के सामने लम्बे समय तक उजागर नहीं होने दिया। हालांकि बहुत-से ऐसे लोग भी थे, जो धीमे-धीमे अपने-आपको कांग्रेस की सत्तावादी शतरंज से परे हटा ले गए। ऐसे लोगों को राजनीतिक संस्कार मिला था गांधी से। वे सिद्धांत और राजनीतिक मूल्यों की शर्त पर समझौते नहीं कर सकते थे।

जिस शालीन ढंग से ये लोग अलग हुए, वह अपने-आपमें राजनीतिक मूल्यवाद का उदाहरण है। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, आचार्य कृपलानी, बाबू जयप्रकाश नारायण, डॉक्टर राममनोहर लोहिया आदि अनेक तपस्वी थे, जिन्होंने संस्था पर दोष न मढ़कर सम्पूर्ण अनुशासन और संस्कारिता के साथ अपने-आपको अलग कर लिया। यह समय वह था, जब कांग्रेस धीमे-धीमे व्यक्तिवाद की ओर बढ़ रही थी। और इस व्यक्तिवाद को बढ़ावा दे रहे थे, वे लोग, जिनमें नेहरू की राजनीतिक विचारधारा के समर्थक कम थे, किंतु नेहरू के प्रभावी व्यक्तित्व की चाटुकारिता से घराव करने वाले ज्यादा थे। परिणामतः एक महान लोकतंत्रवादी और नैतिक मूल्यों से बना-बढ़ा राजनीतिक दल कांग्रेस क्रमशः व्यक्तिवादी होता गया। होते-होते यह दल एक ऐसी फौज बनकर रह गया, जो किसी राजा के लिए राज्य बनाए रखती है, जिसके

दरबारी हां में हां मिलाते हैं और कानून, विचार, सिद्धांत, कला सभी कुछ राजा की इच्छानुकूल चलते हैं।

कांग्रेस में व्यक्तिवाद का आरंभ

यह बिलकुल नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेस में व्यक्तिवाद का जन्म केवल नेहरूजी से ही हुआ। संभवतः कांग्रेस में व्यक्तिवाद का आरंभ महात्मा गांधी के साथ ही हो गया था। उसकी हल्की-सी झलक उस समय मिली थी, जब नेताजी सुभास बोस ने कांग्रेस छोड़ी और दूसरी साफ झलक उस समय मिली, जब स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री पद हेतु कांग्रेस दल में बहुमत सरदार वल्लभभाई पटेल के पक्ष में गया और महात्मा गांधी ने ज़िद करके नेहरूजी को प्रधानमंत्री पद पर लाने की इच्छा व्यक्त की। पर वह समय केवल व्यक्तिवादी तानाशाही का नहीं, व्यक्तिवादी नैतिकता का भी था। उस नैतिकता का जिसकी बुनियाद में स्वयं महात्माजी ने ही सत्य, अहिंसा के शाश्वत नैतिक मूल्य की स्थापना की थी। यही कारण था कि उन्होंने अपना व्यक्तिवाद किसी राजनीतिक झूठ या शतरंजी चाल के बगैर स्पष्टतः सरदार पटेल के सामने प्रस्तुत किया। चूंकि सारे दल में नैतिक और परम्परागत मूल्यों के प्रति आस्था थी, अतः सहज भाव से सरदार ने अपने 'बुजुर्ग नेता' की वैयक्तिक इच्छा को आदर दिया। पर बाद में व्यक्तिवाद से नैतिकता के समझौते और साफगोई की ईमानदारी वाली यह स्थिति नहीं रही। इसके बाद कांग्रेस में बढ़ता व्यक्तिवाद मूल्यों को कुचलता हुआ केवल निरंकुशवाद बनने लगा। राजनीति के नाम पर वही कुतर्की और मूल्यहीन कहावत लागू होने लगी 'एवरी थिंग इज़ फेयर…'

'सब कुछ सही है!…' और यह हुआ कांग्रेस की मूल व्यक्तिवादी राजनीति का आदर्श। इस व्यक्तिवाद ने अपनी राजनीतिक मोहरेबाज़ी प्रारंभ की पहले चुनाव से ही। १६५७ के चुनावों में मुझे याद है, कांग्रेस का चुनाव-चिह्न—चिह्न या दल न होकर केवल गांधी ही हो गया था। दीवारें गांधी से रंगी हुई थी। हर शासकीय कार्यालय में गांधी की तसवीरें लटकी हुई थीं। हर भाषण, हर प्रचार-पत्र गांधी का नाम लेता था, हर सिनेमाघर में गांधी की तसवीर वाली स्लाइड दिखाकर 'कांग्रेस को वोट दो' कहा जाता था। हर नेता कांग्रेसी टोपी लगाकर 'गांधी की जै', 'जै हिन्द!'…या 'महात्मा गांधी ज़िन्दाबाद' के नारे उछालकर सभा का प्रारंभ और अंत करता था…।

और मज़ेदार बात यह थी कि गांधी ने गांधी की उपस्थिति में ही कांग्रेस पद को गरक चुकी थी। गांधीवाद के नाम पर कांग्रेस आराम से चुनावी कुलाचें भर रही थी और गांधी तथा गांधीवाद असलियत में कांग्रेस से हज़ारों मील दूर रह गए थे। पर राजनीति का सिद्धांत—सब सही है!…

इसलिए गांधी के नाम पर कांग्रेस को जिता ले जाना भी सही था। मुझे एक कहावत याद आती है और लगता है कि कोई भी महापुरुष राजनीति में एक गुडविल बनकर रह जाता है। कई बार इस गुडविल पर सब कुछ चलता है। सिद्धान्तों से हटा हुआ दल भी और सिद्धान्तों से हटा हुआ व्यक्ति भी…

कहावत की घटना है—

एक ग्राहक कार बनानेवाली किसी बड़ी फर्म में पहुंचे और शो-रूम में पहुंचकर उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि उन्हें कार की ट्रायल दी जाए। तुरन्त व्यवस्था हुई। फर्म का ड्राइवर उन्हें कार में बिठालकर करीब बीस किलो-मीटर ले गया, तभी अचानक कार बन्द हो गई। ड्राइवर सीट से उतरा, बाहर जाकर उसने बोनट खोला और फिर उसे बन्द करके निराश भाव से अपनी जगह आ बैठा। माथे पर हाथ रखा और चुप। ग्राहक ने परेशान होकर पूछा, "क्यों भाई, क्या बात हुई? कार क्यों बन्द हो गई?"

ड्राइवर ने गहरी सांस ली। बोला, "क्या बताऊं साहब! कार में इंजिन तो है ही नहीं!"

"इंजिन नहीं है?" आश्चर्य से ग्राहक चिल्लाया, "तब यह कार यहां तक कैसे दौड़ी चली आई?"

ड्राइवर ने जवाब दिया, "यह तो कम्पनी की गुडविल है साहब!…"

तो पहले आम चुनाव में कांग्रेस और गांधी के बीच भी यही हुआ। गांधीजी जैसे तपस्वी राजनीतिज्ञ की गुडविल, दल में नैतिक मूल्यों और आदर्शों का पतन हो जाने के बावजूद, दल को चुनाव में भारी बहुमत की ओर खींच ले गई।

यानी कांग्रेस ने 'सब कुछ सही है' के सिद्धांत पर सत्ता में समाए रहना तय किया। इस सिद्धांत के तहत बहुत कुछ हुआ। चूंकि जन-साधारण प्रजा-तंत्रीय व्यवस्था का प्रारंभिक दौर झेल रहा था, अत: बड़ी सुविधा के साथ कांग्रेस की सत्तावादी राजनीति और उसके भीतर का व्यक्तिवाद पनपता रहा।

इस व्यक्तिवाद का बहुत कुछ प्रभाव जवाहरलालजी में आया था और उस सारे दौर में, जब पंडितजी प्रधानमंत्री थे, श्रीमती इन्दिरा गांधी छाया की तरह उनके साथ रहा करती थीं। इन्दिराजी पर क्रमश: इस व्यक्तिवाद ने

असर किया, अपने पिता के प्रभाव और व्यक्तित्व के कारण। एक तरह से जब यह कहा जाता है और बहुत-से लेखकों ने स्वीकारा भी है कि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने सम्पूर्ण राजनीतिक विचार और योग्यता अपने पिता से शिष्य रूप में प्राप्त की, तब यह नहीं भूला जाना चाहिए कि इन्दिराजी अगर अपने पिता से राजनीतिक सूझ-बूझ पा रही थीं, तो बहुत हद तक वे जाने-अनजाने उस वैयक्तिकता को भी उभार रही थीं, जिसे उनके नीतिज्ञ पिता ने कांग्रेस पर हावी कर रखा था (या अनायास हो गई थी?)! बहरहाल यह निश्चित था कि जवाहरलालजी के व्यक्तित्व से इन्दिराजी ने राजनीति कम और व्यक्तिवाद ज़्यादा सीखा, जिसका दुष्परिणाम जून १९७५ से भारत में जारी किए गए आपातकाल और उससे पूर्व उनके प्रधानमंत्रित्व में पूरी कांग्रेस संस्था और देश ने भोगा। इस व्यक्तिवाद को ज़्यादातर बढ़ावा कांग्रेस में ही पहुंचे उन लोगों से मिला, जो 'नये' के नाम पर नारेबाज़ियां किया करते थे और जिन्होंने कांग्रेस का वह संघर्षशील रूप निश्चय ही नहीं देखा था, जो स्वतंत्रता से पूर्व रहा था। स्पष्ट शब्दों में यदि यह कहा जाए कि कांग्रेस के भीतर 'नये खून' के नाम से अचानक जो पीढ़ी आने लगी थी, वह अवसरवादी और स्वार्थ-लिप्त ज़्यादा थी, बनिस्बत देश के लिए कुछ करने वाले लोगों के। इन्दिराजी के भीतर बैठे राजनीतिज्ञ ने दूरदर्शिता से इस तरह के लोगों को खूब अच्छी तरह समझा और शायद उसी समय निर्णय कर लिया कि यही लोग हैं, जो आगे उनके काम आ सकते हैं। श्रीमती गांधी ने किस तरह, ऐसे लोगों को काम में लिया—बाद में ज़िक्र आएगा।

कांग्रेस के भीतर नेहरूजी के समय से पनपी व्यक्तिवादी राजनीति की चर्चा करते हुए वयोवृद्ध लेखक और हिन्दी पत्रकार श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की इन्दिराजी को लेकर वर्णित एक घटना की चर्चा करना चाहूंगा। यह घटना हालांकि प्रभाकरजी की तीव्र पत्रकारीय बुद्धि ने राजनीतिक आदर्श बना ली है, किन्तु बिना घुमाव-फिराव के यदि इस घटना पर ध्यान दिया जाए तो सहज समझ में आ जाता है कि नेहरू-परिवार ने किस 'मुग़लिया ढंग' से हिन्दुस्तान के तख्त पर कब्ज़ा किए रहने की व्यक्तिवादी राजनीति खेली थी।

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने 'नया जीवन' के 'इंदिरा गांधी' अंक में लिखा है:

"...जो लोग अन्दरूनी खबर रखते हैं, उनका कहना है कि जवाहरलालजी

की बीमारी (१९६४ में; जब उन्हें पक्षाघात हुआ तब—भ्रमर) को देखते हुए मुरारजी भाई देसाई के पास यह सन्देश भेजा गया था कि वे इन्दिराजी को प्रधानमंत्री और अपने को उप-प्रधानमंत्री बनाकर शासन का नेतृत्व स्वीकार करें तो जवाहरलालजी को त्यागपत्र देने के लिए तैयार किया जा सकता है। इसपर मुरारजी भाई का उत्तर था कि जवाहरलालजी त्यागपत्र दे दें, और संसद-सदस्यों को अपने नेता का चुनाव करने दें। चुनाव इन्दिराजी के पक्ष में रहा तो मैं उनके साथ काम करूंगा और मेरे पक्ष में रहा तो वे मेरे साथ काम करेंगी।…"

प्रकट है कि कांग्रेस के भीतर बैठा नेहरू-परिवार का व्यक्तिवाद उसी समय से इस राजनीतिक खटपट में जुट गया था कि किस तरह इन्दिराजी को जवाहरलालजी की विरासती कुर्सी पर पहुंचा दिया जाए। श्री प्रभाकर का वर्णन (चाहे जिस वकीली घुमाव-फिराव से लिखा गया हो) यह प्रकट कर जाता है कि नेहरूजी की उपस्थिति में ही, श्रीमती गांधी के प्रधानमंत्री बनने का जोड़-तोड़ प्रारंभ हो चुका था। यदि श्री मुरारजी भाई देसाई ने उस समय यह उत्तर दिया कि कांग्रेस के संसद-सदस्यों को प्रजातांत्रिक पद्धति से अपने नये नेता का चुनाव करने दिया जाए तो इसमें कौन-सी गैरवाजिब बात थी? श्री देसाई का उत्तर प्रजातांत्रिक व्यवस्था की दृष्टि से एकदम सही था। अप-रोक्ष रूप से श्री देसाई ने अपने उत्तर में यह भी कह दिया था कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था में किसी पद के लिए दो व्यक्ति भी खड़े हो सकते हैं, फिर बहुमत जिसे चुनना चाहे—चुने।

प्रभाकरजी ने आगे लिखा है कि "मुरारजी के इस कड़वे उत्तर के कारण ही जवाहरलालजी ने अपने उत्तराधिकारी रूप में श्री लालबहादुर शास्त्री को चुन लिया था।" यह दलील अपने-आपमें और भी ज्यादा हास्यास्पद है। भला किसी प्रजातंत्र में ऐसा कैसे हो सकता है कि एक चुना हुआ प्रतिनिधि अपने वारिस का चुनाव भी करने लगे? यदि यह कहा जाता कि नेहरूजी ने अपनी रुचि या अपनी राय (जो उनकी निजी थी— कांग्रेस कार्यसमिति के एक सदस्य के नाते-भर) शास्त्रीजी के पक्ष में बनाई थी तो ज्यादा बेहतर होता।

२७ मई, १९६४ को श्री जवाहरलालजी की मृत्यु के बाद कांग्रेस दल ने सर्वसम्मति से श्री शास्त्री को नेता चुना और वे प्रधानमंत्री हुए। श्री शास्त्री का सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन आदर्शवाद का उदाहरण रहा था। बाद में भी रहा। वे राजनीतिज्ञ अवश्य थे, किन्तु उनकी राजनीति मानवीय मूल्यों की

भारतीय राजनीति थी। यही कारण था कि उन्होंने अपने मंत्रिमंडल में श्रीमती गांधी को सूचना व प्रसारण मंत्री बनाया था। जबकि प्रभाकरजी लिखते हैं—"...इन्दिराजी का व्यक्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व की दृष्टि से लालबहादुरजी से बड़ा था—प्रसिद्धि में भी और सम्पर्क में भी, इसीलिए लालबहादुरजी ने इन्दिराजी का नाम विदेश मंत्री के रूप में चुना, पर इन्दिराजी ने साफ इन्कार कर दिया।...लालबहादुरजी की व्यवहारनिपुणता को ही इसका श्रेय है कि उन्होंने केन्द्रीय सूचना मंत्री बनना स्वीकार कर लिया।"

मुझे स्मरण है, जब श्री शास्त्री ने स्नेह और आदरसहित श्रीमती गांधी को अपने मंत्रिमंडल में लिए जाने की घोषणा की, तब बुद्धिजीवी और सामान्य वर्ग में यही कहा गया था कि शास्त्रीजी आदर्श व्यक्ति हैं और उन्होंने स्वर्गीय जवाहरलालजी की स्मृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही एक संवेदनात्मक कदम उठाया है। यह कितनी ओछी बात है कि श्री प्रभाकर जैसे सुलझे हुए और बुजुर्ग बुद्धिजीवी स्वर्गीय शास्त्री की योग्यता, सम्पर्क और प्रसिद्धि का इन्दिराजी के साथ 'छोटा-बड़ा' शब्दों में तुलनात्मक अध्ययन करने लगें। इस तरह के लेखन-उदाहरण सामन्ती इतिहास की चीज हो सकते हैं, प्रजातंत्रीय व्यवस्था के निश्चित ही नहीं।

कुल मिलाकर यह कि नेहरू-परिवार की व्यक्तिवादी परम्परा को यदि स्वतंत्रता के बाद घुस आए कांग्रेस के अवसरवादी या मुखौटाधारी राजनीतिज्ञों ने बढ़ावा दिया तो दूसरी ओर इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इस स्थिति को बुद्धिजीवी वर्ग ने भी कम बढ़ावा नहीं दिया। व्यक्तिवाद का उमड़ता-घुमड़ता चेहरा यदि श्रीमती गांधी के प्रधानमंत्री पद पर पहुंचने के बाद अपने ज्यादा स्पष्ट रूप में सामने आना शुरू हुआ तो उससे भी ज़्यादा स्पष्ट रूप में बुद्धिजीवियों ने अपने 'भाट-रूप' पेश करने शुरू किए। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ों से मुक्ति के बावजूद देश धीमे-धीमे एक परिवार-विशेष की सल्तनत के रूप में ढलने लगा। बौद्धिक दासता का जितना घिनौना रूप आपातकाल के दौरान देखने को मिला है, संभवत: ब्रिटिश राज में भी वैसा नहीं देखा गया था।

एक ओर यदि यह स्थिति थी, तो दूसरी ओर समझदार 'शासक-परिवार' ने विरोध या सत्य को कुचलने की विभिन्न पद्धतियां अपनाईं। मजेदार बात यह थी कि इन पद्धतियों पर बड़ी सुविधा से जनतंत्र का बुरका उढ़ाया हुआ

भारतीय राजनीति थी। यही कारण था कि उन्होंने अपने मंत्रिमंडल में श्रीमती गांधी को सूचना व प्रसारण मंत्री बनाया था। जबकि प्रभाकरजी लिखते हैं—"…इन्दिराजी का व्यक्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व की दृष्टि से लालबहादुरजी से बड़ा था—प्रसिद्धि में भी और सम्पर्क में भी, इसीलिए लालबहादुरजी ने इन्दिराजी का नाम विदेश मंत्री के रूप में चुना, पर इन्दिराजी ने साफ इन्कार कर दिया।…लालबहादुरजी की व्यवहारनिपुणता को ही इसका श्रेय है कि उन्होंने केन्द्रीय सूचना मंत्री बनना स्वीकार कर लिया।"

मुझे स्मरण है, जब श्री शास्त्री ने स्नेह और आदरसहित श्रीमती गांधी को अपने मंत्रिमंडल में लिए जाने की घोषणा की, तब बुद्धिजीवी और सामान्य वर्ग में यही कहा गया था कि शास्त्रीजी आदर्श व्यक्ति हैं और उन्होंने स्वर्गीय जवाहरलालजी की स्मृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही एक संवेदनात्मक कदम उठाया है। यह कितनी ओछी बात है कि श्री प्रभाकर जैसे सुलझे हुए और बुजुर्ग बुद्धिजीवी स्वर्गीय शास्त्री की योग्यता, सम्पर्क और प्रसिद्धि का इन्दिराजी के साथ 'छोटा-बड़ा' शब्दों में तुलनात्मक अध्ययन करने लगें। इस तरह के लेखन-उदाहरण सामन्ती इतिहास की चीज़ हो सकते हैं, प्रजातंत्रीय व्यवस्था के निश्चित ही नहीं।

कुल मिलाकर यह कि नेहरू-परिवार की व्यक्तिवादी परम्परा को यदि स्वतंत्रता के बाद घुस आए कांग्रेस के अवसरवादी या मुखौटाधारी राजनीतिज्ञों ने बढ़ावा दिया तो दूसरी ओर इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इस स्थिति को बुद्धिजीवी वर्ग ने भी कम बढ़ावा नहीं दिया। व्यक्तिवाद का उमड़ता-घुमड़ता चेहरा यदि श्रीमती गांधी के प्रधानमंत्री पद पर पहुंचने के बाद अपने ज़्यादा स्पष्ट रूप में सामने आना शुरू हुआ तो उससे भी ज़्यादा स्पष्ट रूप में बुद्धिजीवियों ने अपने 'भाट-रूप' पेश करने शुरू किए। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ों से मुक्ति के बावजूद देश धीमे-धीमे एक परिवार-विशेष की सल्तनत के रूप में ढलने लगा। बौद्धिक दासता का जितना घिनौना रूप आपातकाल के दौरान देखने को मिला है, संभवतः ब्रिटिश राज में भी वैसा नहीं देखा गया था।

एक ओर यदि यह स्थिति थी, तो दूसरी ओर समझदार 'शासक-परिवार' ने विरोध या सत्य को कुचलने की विभिन्न पद्धतियां अपनाईं। मज़ेदार बात यह थी कि इन पद्धतियों पर बड़ी सुविधा से जनतंत्र का बुरका उढ़ाया हुआ

था और सहजता के साथ सत्य को झूठ मे ढालने की कोशिश की जा रही थी।

स्वर्गीय नेहरूजी के समय में विरोध का गला घोंटने की राजनीतिक पद्धति बहुत 'शालीन' थी। रेडियो, टेलिविज़न और समाचारपत्र सरकारी मुट्ठी मे थे तथा कई लोग विभिन्न ढंग से पुरस्कृत और सम्मानित किए जा रहे थे। कला-साहित्य को राजाश्रय दिए जाने की 'शालीन राजनीति' के हथियार से बड़ी सुविधा के साथ भौतिक आकर्षणों की ओर झुकनेवाले बुद्धिजीवियो के आलोचनात्मक दात भोथरे कर दिए जाते थे। जिन समाचारपत्रो मे गलत के प्रति विद्रोह प्रकट किया जाता था, उनके सरकारी विज्ञापन बन्द कर दिए जाते थे या उन्हें 'साम्प्रदायिक', 'रूढ़िवादी' अथवा 'प्रतिक्रियावादी' कह दिया जाता था। देश का सारा प्रचार-तंत्र सरकार के हाथ में था ही और सरकार एक सम्राट् की थी, अतः बड़ी आसानी से किसी भी दल, व्यक्ति-विशेष या बुद्धिजीवी पर जो लांछन लगाना चाहते, लगा दिया जाता। यही नही, कांग्रेस दल मे ही अगर इस पारिवारिक साम्राज्यवाद या नीतियो का विरोध होता तो ऐसे लोगों को किसी न किसी रूप में जन-सामान्य के सामने गलत तरह प्रचारित किया जाने लगता। किसीको अमरीकी एजेण्ट, किसीको सी० आई०ए० एजेण्ट, किसीको साम्प्रदायिक, किसीको किसी राष्ट्रनेता का हत्यारा या किसीको देशद्रोही कहा जाने लगता। इस प्रचार-राजनीति मे हथियार बनते थे वे लोग, जो किसी भी देश की पीढ़िया बनाते हैं और जिन्हे बुद्धिजीवी कहा जाता है। साम्राज्य पनप रहा था। इस साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वर उठानेवाले लोगों को क्रमश सस्था से 'छांटा' जा रहा था।

ऐसे प्रचारक बुद्धिजीवियों का एक उदाहरण दू। प्रसिद्ध पत्रकार, फिल्मकार श्री ख्वाजा अहमद अब्बास की एक पुस्तक इन्दिराजी के प्रधानमत्री बनने के बाद प्रकाशित हुई थी, 'इन्दिरा गाधी - रिटर्न आफ दि रेड रोज़' और उसके फौरन बाद ही उन्हींकी एक और पुस्तक प्रकाशित हुई 'इन्दिरा गांधी : सफलता के दस वर्ष'। दोनों ही पुस्तकें इन्दिराजी के प्रति काफी 'समर्पित भाव से' लिखी गई थी, किन्तु अब्बास साहब का स्वतत्रचेता मन कही न कही इस दुविधा से भारी था कि वे उतना कुछ समर्पण कर रहे है, जितना सभवत. उन्हे (उनके भीतर बैठे निर्णायक और ईमानदार बुद्धिजीवी को) नही करना चाहिए था। यही कारण हुआ कि श्री अब्बास ने इन्दिराजी पर लिखी अपनी दूसरी पुस्तक की भूमिका मे दबे शब्दो मे यह सफाई दी कि "आज तक मुझपर

किसीने यह आरोप नहीं लगाया है कि मैं सत्ता पर प्रतिष्ठित लोगों का खुशामदी हूं!" मैं समझ नहीं पाता हूं कि अगर श्री अब्बास वैसा नहीं करते रहे थे, तब इस सफाई की क्या आवश्यकता थी ?

इमरजेंसी के दौरान 'भाट-भाव के लेखन और पत्रकारिता' को जितना प्रोत्साहन मिला, स्वतंत्रता (?) के गत तीस वर्षों में नहीं मिला। और यह भी कि इस समय में जिस सीमा तक भारतीय बुद्धिजीवी ने 'मानसिक आत्म-समर्पण' किया, उस सीमा तक सोचना भी कष्टकर है। यह कहानी आगे कहीं कही जाएगी। फिलहाल कांग्रेसी राजनीति के भीतर जनमे भयानक व्यक्तिवादी साम्राज्यवाद के उत्कर्ष की कहानी सुनिए।

श्रीमती गांधी : प्रधानमंत्री

श्री गुलजारीलाल नन्दा ११ जनवरी, १९६६ को दूसरा वार कार्यकारी प्रधानमंत्री चुने गए। इस वार दल में नेता पद के लिए कई नाम उभरे थे—यथा श्री मुरारजी भाई, श्री यशवंतराव चव्हाण, और स्वयं श्री नन्दा। कभी-कभार जन-साधारण में एस० के० पाटिल का नाम भी उठता, पर कुछ ही दिनों में यह स्पष्ट हो गया था कि असली टसल श्री मुरारजी भाई से ही होगी। विरोध में जो भी खड़ा हो। कांग्रेस की वैचारिक फूट और सामन्ती संघर्ष के इस संक्रमण-काल में देश किस व्यक्ति के हाथ जाएगा—लोगों में चर्चा होती, अटकलें लगाई जातीं। सूचना मंत्री रहने के दौरान श्रीमती गांधी ने अपने व्यक्तित्व को बड़ी सतर्कता के साथ इस रूप में नहीं उभरने दिया था कि वे 'दिग्गजों' की कोटि में गिनी जाकर विवादास्पद बन जाएं, बल्कि उन्होंने बड़ी समझदारी से अपने-आपको अत्यंत सरल, शांत और मृदु महिला के रूप में उभारा था। यही नहीं, उन्होंने अपने-आपको एक भारतीय महिला के सम्पूर्ण आदर्शों की प्रतीक भी बनाया था।[1] जबकि 'दिग्गजों' की स्थिति अलग थी।

---

१. इन्दिराजी उन दिनों जब किसी अर्ध-विकसित नगर-गांव की सभा में भाषण दिया करती थीं तब विशेष रूप से पल्लू सिर पर लिया करती थीं, जबकि सामान्यतः वैसा नहीं होता था। मुझे स्मरण है कि उन्होंने जन-साधारण की सांस्कृतिक संवेदना को भी गाहे-बगाहे बड़े विशिष्ट भारतीय धरातल पर अपने पक्ष में उभारा। इसका उदाहरण है उनका इलाहाबाद में यह कहना कि मैं आपकी बेटी हूं जबकि कश्मीर में सुना गया था कि वह

राजनीतिक जुझार के दौर में वे परस्पर साथ रहकर भी प्रतिद्वंद्वी भाव से जन-सामान्य के सामने स्पष्ट थे। उन्होने एक-दूसरे के बारे मे दबे-मुदे ढग से जनता के बीच आलोचना करके अपने-आपको अजाने ही उजागर भी कर डाला था। स्वर्गीय नेहरू ने अपने समय मे ही मुरारजी भाई को ज़बरदस्त व्यक्तित्व की तरह उभरते देखा था और उसी समय से मुरारजी को लेकर जनता के बीच एक खास तरह का प्रचार-तंत्र कार्य करने लगा था। इस प्रचार-तंत्र ने उन्हें नितान्त गाधीवादी और घोर प्रजातान्त्रिक होते हुए भी एक 'डिक्टेटर' या 'ज़िद्दी राजनीतिज्ञ'के रूप मे उभार दिया था। लोगों के बीच उनके व्यक्तित्व के प्रति शंकाएं और भय पैदा कर दिए गए थे।

इस स्थिति का लाभ श्रीमती इन्दिरा गाधी को बहुत मिला। बहुत हद तक इसका कारण श्री मुरारजी भाई का समझौतावादी राजनीतिज्ञ न होना भी था। इसके बावजूद मुरारजी अपने-आपमे इतने प्रभावशाली थे कि नेहरू के बाद अपने सभी साथियो की तुलना मे जनता के बीच वे ही चर्चित थे। सहज था कि मुरारजी भाई के विरोध मे वैयक्तिक रूप से हर दिग्गज महसूस कर रहा था कि वह टिक नही पाएगा। यह भी कि मुरारजी के दबंग व्यक्तित्व की कल्पना उनके 'दिग्गज' साथियो यथा, कामराज, अतुल्य घोष, चव्हाण आदि सभी को थी और ये सभी किसी न किसी स्तर पर महसूस कर रहे थे कि मुरारजी यदि प्रधानमंत्री बने तो उनका (दिग्गजों का) अपना प्रभाव कम हो जाएगा। तब क्या करें ?...

१० जनवरी को, जिस दिन शास्त्रीजी को हार्ट-अटैक हुआ और उनकी मृत्यु हुई उसी दिन से दल के नेता पद को लेकर दिल्ली मे ज़बरदस्त दौड़धूप और उलट-फेर चलती रही। 'दिग्गज' चिन्तित थे, उनमें से मुरारजी के सामने कोई नहीं ठहरेगा, तब किसे लाया जाए ? · विकल्प रूप मे बार-बार एक चेहरा आ जाता—श्रीमती इन्दिरा गाधी। इस चेहरे के साथ राजनीतिक गुडविल भी थी और देखने-भालने और अब तक के व्यवहार से लग रहा था जैसे इस निर्विवाद चेहरे को अच्छी तरह काम में लिया जा सकता है। उस

मूलत. तो कश्मीरी ही हैं और रायबरेली मे उन्होंने जनता को बतलाया कि वह रायबरेली की बहू हैं। क्या यह सब इसलिए नहीं था कि क्षेत्रीय स्तर पर निर्मल हृदय भारतीयो की संवेदना जगाकर सहानुभूति पा ली जाए ? जबकि उपर्युक्त बातो से देश के लिए, जनता के सामने कौन-सा रचनात्मक और क्रांतिकारी कदम रखा जाता था ?

क्षण 'दिग्गज' यह कल्पना भी नहीं कर सके थे कि अपने-आपको 'निर्विवाद और चमत्कारी ढंग से शांत' बनाए रखना भी एक राजनीति हो सकती है। यह संकेत दिग्गजों को उस समय भी नहीं मिला, जब धीमे से मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री और राजनीति के धाकड़ खिलाड़ी श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने श्री मुरारजी भाई के विरुद्ध श्रीमती गांधी का नाम प्रस्तावित किया। यही नहीं, उन्होंने यह सूचना भी दी कि श्रीमती गांधी खुल्लमखुल्ला ढंग से दलीय चुनाव के मैदान में उतर सकती हैं।

यही हुआ। १६ जनवरी, १९६६ को दलीय चुनाव के मैदान में श्रीमती इन्दिरा गांधी, मुरारजी के विरुद्ध उतरीं और उन्होंने संसदीय दल में बहुमत से मुरारजी को हरा दिया। दिग्गजों ने समझा कि उनकी राजनीति सफल हुई जबकि वास्तव में श्रीमती गांधी की विजय उनकी अपनी राजनीतिक विजय थी और दिग्गजों की राजनीतिक पराजय।

सत्ता में आते ही प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने प्रचार-तंत्र का वही 'शालीन' प्रयोग प्रारंभ किया जो कभी उनके पिता जवाहरलालजी ने किया था। परिणाम हुआ, दलगत स्थिति किनारे हो गई, दल की लोकतंत्री कार्यपद्धति क्रमशः समाप्त या क्षीण होने लगी और श्रीमती इन्दिरा गांधी एक खास तरह जन-साधारण के सामने अपने-आपको घोर समाजवादी, लोकतंत्री और जन-हितैषी रूप मे उभारने लगीं। यही कारण हुआ कि कांग्रेस में श्रीमती गांधी के एक वर्षीय सत्ता-काल के भीतर ही वैचारिक बलवा शुरू हो गया। यह बलवा पहले प्रधानमंत्री के सामने समझायश के रूप में आया, फिर धीमे-धीमे जनता के सामने भी उभरने लगा। प्रचार-तंत्र का कमाल यह था कि दल के वृद्ध 'दिग्गजों' को खास तरह के 'पूंजीवादी गुर्गे' के रूप में सामान्य लोगों के सामने लाया जा रहा था। जैसा कि मैंने पूर्व में लिखा, श्रीमती गांधी बहुत पहले उस 'नये खून' को पहचान चुकी थीं, जो केवल अवसरवादी और स्वार्थ-लिप्त था। सत्ताधारी होने के पश्चात् इन्दिराजी इस 'नये खून' को बढ़ावा देती रही थीं और प्रचार-तंत्र के माध्यम से जनता के सामने उन्हें क्रांतिकारी होने का तमगा पहनाती रही थीं। इस तरह लोकतंत्रीय संस्था में धीमे-धीमे प्रचार के 'स्लो प्वायज़निंग' ने इन्दिराजी का बहुमत बनाया, व्यक्तिवाद की जड़ें स्थायी कीं। दुर्द्धर्ष राजनीतिज्ञ सर्वश्री कामराज, निजलिंगप्पा, मुरारजी भाई आदि अब भी उस लोकतांत्रिक व्यवस्था पर विश्वास किए चले जा रहे थे, जो महात्मा गांधी ने कांग्रेस को सौंपी थी। कुल मिलाकर यह कि एक ओर 'एवरी थिंग

इज फेयर' की नैतिक बंधनों से मुक्त राजनीति थी, दूसरी ओर नितांत भारतीय मूल्यों वाली गांधीवादी लोकतंत्रात्मक राजनीति थी, जो पल-पल इस विश्वास को सहेजे हुए चल रही थी कि जनता-जनार्दन से श्रेष्ठ निर्णायक कोई नहीं है और सत्य परखने के लिए जनता के पास समुचित शक्ति है।

इस सारे दौर को शायद श्रीमती गांधी कांग्रेस मे व्यक्तिवादी ढंग से पूरी तरह कैश न भी करवा पातीं, किन्तु राजनीतिक चेतना के नाम पर संभवतः उतनी क्रांतिकारी वैचारिक धरती उस समय तक देशवासियों को नही मिली थी। दूसरी ओर देश के औसत समाचारपत्र और बुद्धिजीवी अपने-आपको शासकीय सुविधाओं के लिए एक तरह से गिरवी रखे हुए थे। तब कौन बचा था जो वैचारिक चेतना फैला सकता ? विरोधी दलो की स्थिति और भी गई-बीती थी। स्वतंत्रता के बाद निरंतर चले प्रचार-तंत्र ने विरोधियों को साम्प्रदायिक और सी० आई० ए० के एजेण्ट प्रचारित कर रखा था। सत्ता में अपने-आपको स्थापित किए रहने के मोह ने एक ओर श्रीमती गांधी को कांग्रेस मे फूट पैदा करने की प्रेरणा दी तो दूसरी ओर उन्होंने हौले से भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी से हाथ मिला लिए। वही कम्यूनिस्ट पार्टी, जिसने कभी अंग्रेज़ों से स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष के समय सारे देश से गद्दारी की थी। वह कम्यूनिस्ट पार्टी, जिसके राजनीतिक दर्शन-दाता और सिद्धांत-जनक ने इस आदर्श को गढ़ा है कि अपने-आपको मजबूत करने या सत्ता पर पहुचने का सबसे आसान तरीका है, किसी भी देश मे अराजकता पैदा कर डालना या फिर उस देश के सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक जीवन मे अस्थिरता ला देना। ऐसे सक्रातिकाल मे मार्क्सवाद को सुविधा से कब्जा करने के अवसर मिलते है।

और १९६६-६७ मे भारतीय प्रजातन्त्र उसी दौर से गुजर रहा था। श्रीमती गाधी के व्यक्तिवादी साम्राज्यवाद ने कांग्रेस को अपने ही भीतर हिला डाला था। जो दिग्गज कभी उन्हे अपने दल की सर्वेसर्वा बनाकर ले आए थे, वही अपनी गोटी की मार झेल रहे थे। लोकतांत्रिक मूल्यो से सस्था क्रमश रिक्त हो रही थी। विरोधी दल बदनाम किए जा चुके थे। देश आर्थिक और सामाजिक सकट मे था। कम्यूनिस्ट पार्टी ने सही अवसर जानकर अपनी 'महान क्रांति' की योजना बना रखी थी। यह क्राति थी, बिगडते हुए को ज्यादा बिगाड़ डालने की। इस क्राति के अनुसार महान सस्था में पड़ी दरार को ज्यादा चौडा कर डालना था। यहा तक कि कांग्रेस सस्था ही चकनाचूर

हो जाए । मुझे स्मरण है कि उस समय भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के शीर्षस्
नेता खुलेआम जन-मंच पर आकर इन्दिराजी का समर्थन करने लगे थे । यहीं
नहीं, उन्होंने सबसे पहले नारा दिया—'इन्दिरा के हाथ मज़बूत करो !'

इसी समय में १९६७ का चुनाव आया । गरीबी हटाने और देश को बनाने
की ऐसी-ऐसी सब्ज़बागी तसवीरें जनता के सामने दिखाई गई थीं कि लोग
काल्पनिक सुख के संसार में खोए जा रहे थे । यह भी कहा जा रहा था कि
यह सब इन्दिराजी केवल इसलिए नहीं कर पा रही है, क्योंकि कांग्रेस में ऐसे बूढ़े
लोग हैं, जिनकी राजनीतिक बुद्धि कुंठित हो चुकी है और जो भ्रष्टाचारी हैं
अथवा अमेरिकी साम्राज्यवाद के गुर्गे हैं । ऐसे लोग देश में गरीबी बढ़ा रहे हैं
और अमीरों को ज़्यादा अमीर होने की सुविधाएं दिए जा रहे हैं । इस हवाई
प्रचार को बल दे रहे थे बहुत-से बुद्धिजीवी, जिन्होंने भविष्य की कुछ आशाएं
बटोर रखी थीं । किसीने यह कि जो श्रेष्ठ 'भाट' सिद्ध होगा, उसे या तो
पुरस्काररूप में कोई 'श्री' मिल जाएगी, या फिर राज्यसभा की सदस्यता ।
यदि यह सब न भी मिल पाया तो इतना निश्चित ही है कि वे किसी सरकारी
ऋण-योजना का ही लाभ उठा लेंगे । बहुत-से छुटभइए समाचारपत्र भ
शुरू हो गए थे, जिनकी संख्या हज़ारों में थी और ये सभी पत्र परम सेवा
भाव से इस प्रचार-तंत्र के पुर्ज़े बने हुए थे । मुझे ऐसे कई समाचारपत्रों का स्मरण
है, जिन्हें निकलने के फौरन बाद ही विभिन्न प्रान्तों के विज्ञापन मिलने लगे
थे, ताकि वे दीर्घजीवी हों । इसके विपरीत, मुझे यह भी स्मरण है कि उन
समाचारपत्रों की हालत बुरी तरह खस्ता हो चुकी थी, जो इस व्यक्तिवाद
का विरोध करते रहे थे या जो विरोधी दलों की बात को महत्त्व देकर
प्रकाशित किया करते थे । कई पत्रों को तो इस सीमा तक दबाया गया था कि
उनका प्रकाशन ही बन्द हो जाए ।

यह नीति नई नहीं थी । श्री नेहरू के समय की ही थी । अन्तर इतना था
स्वतंत्र विचारों का गला घोंट देने की पद्धति उतनी क्रूर नेहरूजी के समय
हीं थी, जितनी कि श्रीमती इन्दिरा गांधी के सत्तारूढ़ होने के बाद धीमे-
होती गई । व्यक्तिवादी और साम्राज्यशील स्वभाव का ही अंग था यह ।
वाहरलाल नेहरू से लेकर श्रीमती इन्दिरा (नेहरू) गांधी के सत्ताकाल
का सारा समय यदि इस ढंग से देखा जाए तो यह सहज ही भी समझा जा
है कि बाप-बेटी में किस अनुपात तक व्यक्तिवाद समाया हुआ था । श्री
जातंत्रीय स्वर के प्रति उतने निर्मम नहीं हुए थे, जितनी श्रीमती गांधी

हुई। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि श्रीमती गांधी एकदम व्यक्तिवादी या 'राजा' स्वभाव की थी?

फरवरी १९६७ के चुनाव मे श्रीमती इन्दिरा गांधी ने प्रचार-तंत्र की बैसाखी लगाकर देश मे तूफानी दौरे किए और व्यक्तिशः श्रीमती गांधी को इन चुनावी दौरों का लाभ भी मिला। चुनाव-परिणाम आए। पिछले (१९६२ के) लोकसभा-चुनाव मे कांग्रेस को ३८१ स्थान मिले थे, जबकि इस बार केवल २८२ स्थान प्राप्त किए जा सके थे। पिछले चुनाव मे भारतीय जनसंख्या के ७० प्रतिशत मत कांग्रेस के पक्ष में गए थे, जब कि इस बार यानी १९६७ में कांग्रेस को केवल ५५ प्रतिशत मिल सके थे। ठीक है कि कांग्रेस ने केन्द्र मे बहुमत बटोर लिया था, किन्तु यह भी सिद्ध हो चुका था कि श्रीमती इन्दिरा गांधी के व्यक्तिवाद का विरोध जन-मानस मे भी है। इस सबके बावजूद श्रीमती गाधी निजी तौर पर लाभ में रही थी। कांग्रेस जैसी गहरी जड़ों की संस्था को उखाड़ते हुए उन्होने सौदा किया था इस चुनाव मे, अपने विरोधी दिग्गजों को समाप्त करने का। भले ही इस सौदे ने कांग्रेस के व्यापक प्रभाव से भारतीय मतदाता की २७.७ करोड संख्या खो दी हो। दिल्ली मे शासकीय स्तर पर इस विजय के ढिढोरे पीटे गए। व्यक्तिसत्ता के हामियो और चाटुकारों ने खुशियों की दीवाली मनाई। पीली पत्रकारिता से भरे समाचार-पत्रो ने बड़े ज़ोर-शोर से श्रीमती गाधी के चित्र प्रकाशित किए। यही नही, इस अवसर पर कवियो ने कविताए लिखी, रगकर्मियो ने नाटक किए। लेखकों ने इन्दिराजी पर पुस्तकें लिखनी शुरू कर डाली।

किन्तु उस समय ऐसे तथाकथित लोगो ने कल्पना भी नही की थी कि वे भारतीय लोकतंत्र मे इन्दिरा गाधी को स्थापित नही कर रहे है, बल्कि राजतंत्र की बुनियाद डाल रहे हैं।

१२ मार्च, १९६७!

श्रीमती इन्दिरा गाधी पुन प्रधानमंत्री चुन ली गईं। कांग्रेस कार्यसमिति मे कुछ हद तक दबा-मुदा विरोध भी हुआ। ससदीय दल मे चख-चख भी रही, किन्तु श्रीमती गाधी 'अवसरवादियों' की कृपा से पुन. सत्तारूढ हो गई। इस स्थिति और श्रीमती गाधी के पुन. चुने जाने को 'नया जीवन' मे ये टिप्पणी लिखकर श्री प्रभाकर ने अपनी तरह व्यक्त किया। मज़ेदार बात यह है कि श्री प्रभाकर की यह टिप्पणी अपने-आपमे श्रीमती इन्दिरा गाधी के उस

व्यक्तित्व को उजागर करती है, जो पूर्णतः सामन्ती है। उद्धृत करता हूं :

"इस अवसर पर श्रीमती इन्दिरा गांधी ने परिपक्व राजनीतिज्ञता का परिचय दिया और अपनी पैतृक साहसिकता का भी। राजनीतिज्ञता का इस बात में कि कांग्रेस अध्यक्ष श्री कामराज इस बार मुरारजी के पक्ष में थे, पर वे यह जानते थे कि बहुमत श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ है। **इन्दिराजी ने आरम्भ में मुरारजी भाई को उप-प्रधानमंत्री मानने से जोरदार इनकार करके** उनका उत्साह तोड़ा, **बाद में पार्टी की इच्छा के माध्यम से प्रस्ताव स्वीकार** कर लिया। साफ-साफ कह भी दिया कि मंत्रिमंडल के निर्माण में मैं स्वतंत्र हूं। इनमें उप-प्रधानमंत्री का कोई हाथ नहीं होगा।

"इस प्रकार कामराज इस हद तक टूट गए कि **मंत्रिमंडल के निर्माण में इन्दिराजी ने उनसे सलाह तक नहीं ली।** और सुबह ६ बजे उन्हें अपने बंगले पर बुलाकर मंत्रिमंडल के सदस्यों की सूची दिखा दी और वे 'ठीक ही है' कहकर लौट आए। **इन्दिराजी के हाथ में कुंजी यह थी कि मुरारजी भाई के साथ** हो जाने से सदस्य उनके साथ सौदेबाज़ी करने की स्थिति से वंचित हो गए थे। अब **उनसे रूठकर या ऐंठकर वे कहां जा सकते थे? किसके नाम पर उन्हें धौंस दे सकते थे? इस प्रकार उन्होंने अपना वर्चस्व स्थापित कर** लिया, यह उनकी बड़ी सफलता थी। इस सफलता का उन्होंने मंत्रिमंडल के निर्माण में साहस के साथ उपयोग किया।

"इन्दिराजी का दूसरा साहसिक निर्णय था राष्ट्रपति पद के लिए डॉक्टर ज़ाकिर हुसेन को खड़ा करना। **कामराज डॉक्टर राधाकृष्णन को ही दोहराना चाहते थे। उनकी मुख्य दलील यह थी कि विरोधी पार्टियां भी इससे असहमत नहीं होंगी और चुनाव नहीं लड़ना पड़ेगा।** कामराज पराजय की मनोवृत्ति से ग्रसित थे पर इन्दिराजी 'पोजीशन लेने' की मनोवृत्ति में रहीं। स्पष्ट है कि चौथे आम चुनाव में पछाड़ खाई पार्टी की नेता होकर भी वे हार मानने को तैयार नहीं थीं। इतिहास के देवता पार्टी को पुनः मज़बूत बनाने के लिए उनके अगले दांव-पेंचों की ओर उत्सुकता से देख रहे हैं। यह उत्सुकता पैदा कर सकना वर्तमान परिस्थितियों में इन्दिराजी की एक बहुत बड़ी सफलता है।"

टिप्पणी के अनुसार, जहां यह लिखा गया है कि श्रीमती गांधी ने मुरारजी भाई को उप-प्रधानमंत्री मानने से ज़ोरदार इनकार करके उनका (कामराज

---

*'नया जीवन', मई १९६७ (राजनीतिक टिप्पणी)

का) उत्साह तोड़ा, बाद में पार्टी की इच्छा के माध्यम से प्रस्ताव स्वीकार कर लिया—क्या यह बात अपने-आपमे इन्दिराजी की इस राजनीति को उजागर नहीं करती कि उन्होंने जानबूझकर अध्यक्ष और पार्टी की इच्छा की अवहेलना करके पार्टी और अध्यक्ष को अपने-आपसे गौण सिद्ध करने की 'नैतिक राजनीति' का उदाहरण दिया था ? एक ओर यदि यह पहलू है तो दूसरी ओर यह भी कि श्री प्रभाकर ने एक जगह लिखा है कि बहुमत इन्दिराजी के पक्ष में था, जबकि दूसरी ओर वे यह भी लिखते हैं कि इन्दिराजी ने **"पार्टी की इच्छा के माध्यम से प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ?"** क्या यह बात अपने आपमें परस्पर-विरोधी नही है ?

टिप्पणी के दूसरे पैरे में लिखा गया है—**"मंत्रिमंडल के निर्माण में इन्दिराजी ने उनसे (कामराज से) सलाह तक नहीं ली।"**

विचित्र बात है ! संसदीय दल का नेता निश्चित ही महत्त्वपूर्ण होता है, किन्तु वह इतना महत्त्वपूर्ण हो जाए कि अपने कार्यकलाप में दल के *अध्यक्ष की सलाह तक न ले—यह कौन-सा लोकतांत्रिक* आदर्श है ?

इसी टिप्पणी में आगे दूसरे पैरे मे लिखा गया है—**"....इस प्रकार उन्होंने (श्रीमती गाधी ने) अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। यह उनकी बड़ी सफलता थी।"**

निस्सन्देह सफलता थी, किन्तु लोकतांत्रिक नही, राजशाही की सफलता। व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का उदाहरण।

टिप्पणी के तीसरे पैरे मे लिखा है—**"कामराज डॉक्टर राधाकृष्णन को (राष्ट्रपति पद के लिए) दोहराना चाहते थे। उनकी दलील यह थी कि विरोधी पार्टियां भी इससे असहमत नहीं होंगी और चुनाव नहीं लड़ना पड़ेगा "** जबकि इन्दिराजी ने राष्ट्रपतिपद के लिए डॉक्टर ज़ाकिर हुसेन का नाम रखा था। क्या यह कथन साबित नही करता कि येन केन प्रकारेण श्रीमती गांधी अपने-आपको एक प्रजातांत्रिक दल पर हावी कर लेना चाहती थी ? वे कांग्रेस अध्यक्ष और पार्टी के बडे नेताओं को भी 'गिनने के लिए' तैयार न थी। भले ही इस 'न गिनने की कोशिश में' राष्ट्रपति पद को लेकर चुनावबाज़ी की स्थिति आए। कामराजजी के उस प्रस्ताव में कि डॉक्टर राधाकृष्णन एक ऐसा नाम है जिसपर विरोधी दल भी एतराज नही करेंगे, कौन-सी अलोकतांत्रिकता या प्रतिक्रियावाद था ?

उपर्युक्त टिप्पणी और तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को उद्धरित करने के पीछे मेरा केवल यह आशय है कि सत्ता में आते ही श्रीमती इन्दिरा गांधी का सारा रुख नितांत व्यक्तिवादी हो गया था और कांग्रेस एक तरह से लोकतंत्रीय संस्था नहीं, किसी एक व्यक्ति की एकाधिकारी 'फर्म' बनकर रह गई थी।

इन हालात का परिणाम यह हुआ कि एक बार कांग्रेस पुन: उसी विघटन के कगार पर आ खड़ी हुई, जो स्वतंत्रता के तुरंत बाद धीमे से प्रकट हुआ था। यह धीमापन उस समय मालूम नहीं पड़ा था, किन्तु इस बार का विघटन स्पष्टत: जनता के सामने होना था। कांग्रेस के बुजुर्ग नेता भी यह चाहते थे कि लोगों को मालूम हो कि वे गलत से विद्रोह कर रहे हैं। संस्था में फैल रहे एकाधिकारवाद से त्रस्त हैं और उन मूल्यों के लिए लड़ना चाहते हैं, जिन्हें कभी कांग्रेस में गांधी, लाजपतराय और बाल गंगाधर तिलक ने संजोया था।

पर ऐसे नेता भूल गए थे कि स्वतंत्रता-पूर्व की स्थिति और आज की स्थिति में बहुत अंतर था। स्वतंत्रता-पूर्व का समय था, जब कांग्रेस नेताओं ने जन-साधारण में चेतना सहज तरह से इसलिए फैला ली थी कि वे विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने का आन्दोलन चला रहे थे, किन्तु अब अपने ही देश में, अपने ही आदमी की उस सत्ता को उखाड़ फेंकने या उसके विरोध में जनमत बनाने की बात थी, जो अपनी बुनियाद में जवाहरलाल नेहरू जैसा नाम लिए हुए था, जिसपर कांग्रेस की मोहर लगी हुई थी और जिसने प्रचार के बड़े साधनों द्वारा अपने-आपको संस्था से कहीं ऊंचा बना रखा था।

पर बुजुर्ग नेता यह स्थिति नहीं समझ सके और यदि समझी भी तो उस गहराई के साथ नहीं, जिस गहराई के साथ इस स्थिति को श्रीमती इन्दिरा गांधी समझ चुकी थीं और अपनी रणनीति भी तय कर चुकी थीं। यही नहीं, श्रीमती इन्दिरा गांधी के दूसरी बार प्रधानमंत्री चुने जाने के बावजूद पुराने नेता अपनी और उनकी स्थिति का ठीक तरह जायज़ा नहीं ले पाए। जबकि उसी समय पल-पल यह स्पष्ट होने लगा था कि हर दृष्टि से श्रीमती गांधी संस्था से ऊंची हो गई हैं और उनका व्यक्तित्व बहुमत पर उसी तरह हावी होने लगा है जैसे किसी राजा का सारे राज्य पर हो जाता है।

कांग्रेस के कुछ बुजुर्ग ('बूढ़े' नहीं) नेताओं ने उस समय ऐसे वक्तव्य भी दिए, जिनमे जनता को यह बतलाने की कोशिश की गई थी कि श्रीमती गांधी क्रमश: समाजवाद का नारा लगाकर राजवाद की ओर बढ रही है, हालांकि श्रीमती गांधी अपने राजवाद को दबाए हुए बार-बार कभी रेडियो, कभी टेलिविज़न और कभी जन-मञ्च से 'एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों' के विरुद्ध भाषण दिया करती थीं। एक बार इसपर तत्कालीन कांग्रेसाध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा ने कहा भी था कि "महत्त्वपूर्ण है कार्य करना और देश को आगे ले जाना। एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध चीखने-शोर मचाने से कुछ लाभ नही होने वाला है।" श्री निजलिंगप्पा का यह कथन 'करनी और कथनी' मे भेद-दर्शन की बात थी किन्तु इस आदर्शवादी नीति का इन्दिरा-शासन मे कोई महत्त्व नही रह गया था। उल्टे एक दूरदेश पत्रकार ख्वाजा अहमद अब्बास ने श्री निजलिंगप्पा के उक्त कथन को अपनी तरह उपयोग करके उन्हींके विरुद्ध प्रमाणित कर दिया।

की गूंज थी, इन्दिरा गांधी को अंतिम रूप से विश्वास दिला दिया कि कांग्रेस की इन दो प्रवृत्तियों में अब कोई समझौता नहीं हो सकता…"

श्री अब्बास के पत्रकारीय करिश्मे की सराहना करने का जी होता है। किसी स्थिति-विशेष के साथ वक्तव्य के कुछ अंश या शब्दों का अपनी तरह अर्थ निकालने को करिश्मा ही माना जाना चाहिए। एक तरह से उपर्युक्त लेखन में श्री अब्बास ने निजलिंगप्पा और मुरारजी भाई को बड़ी सुविधा से निजी उद्योग के एकाधिकारवाद का समर्थक प्रकट कर दिया, जब कि उसी बात का अर्थ कुछ और था। वह निस्सन्देह नहीं, जो निकाला गया। एक तरह से कांग्रेस के भीतर उठे व्यक्तिवादी और लोकतंत्री संघर्ष को, कम्यूनिस्ट पत्रों, प्रचारकों और इन्दिराजी के शासन-तंत्र ने बड़ी सुविधा से जनता के सामने जो नया रूप दिया वह था—समाजवादी और पूंजीवादी गुटों का संघर्ष! जबकि सच में यह संघर्ष हो रहा था इन्दिराजी के एकाधिकारवाद और कांग्रेस के लोकतंत्रवाद में। पर प्रचार-तंत्र की ताकत बहुत होती है। वही हिटलरी पद्धति। हिटलर का युद्ध-प्रचार अधिकारी गोयबल्स कहा करता था—"एक झूठ को हजार बार दोहराओ तो वह सच बन जाता है…" उसी ढंग से कांग्रेस के पुराने नेताओं यथा कामराज, निजलिंगप्पा, मुरारजी भाई आदि के बारे यह झूठ कि वे पूंजीवादी शक्तियों के प्रतिनिधि हैं, इतनी बार कहा, लिखा, फैलाया और सुनाया गया कि जनता में उनके प्रति खासी भ्रांति फैल गई। विशेषकर श्री मुरारजी भाई के बारे में। यों भी श्री मुरारजी भाई स्वर्गीय श्री जवाहरलालजी के समय से ही प्रधानमंत्री पद के सबसे ताकतवर उत्तराधिकारी थे। उनके बारे में इसी तरह का योजनाबद्ध प्रचार नेहरूजी के समय से ही चलता रहा था, इन्दिराजी ने उस प्रचार को लाख गुना कर दिया। और उसका लाभ उन्हें (इन्दिराजी को) बाद में बहुत मिला।

प्रचार के दम पर देश की सत्ता हथियाए रखने की प्रवृत्ति ने अपने रंग दिखलाने शुरू कर दिए थे। जनता को नये-नये सम्मोहन-स्वप्न दिखाए जा रहे थे और केवल कथनी चल रही थी। मीटिंगें, भाषण, पोस्टर सभी कुछ सिर्फ नये-नये नारों और चमत्कारों से भरे सुनहरे लोक जनता को दिखाते रहते। काम करने वाले लोग इस स्थिति को सह नहीं पा रहे थे। परिणाम हुआ दरार बढ़ते जाना। यह दरार इतनी बढ़ी कि विस्फोट की सीमा पर जा ठहरी। इस सीमा को श्रीमती गांधी ने उस समय अन्तिम बार कुरेदा जब अचानक श्री मुरारजी भाई से वित्त विभाग अपने हाथ में ले लिया और

समाचारपत्रों द्वारा जनता को एक वक्तव्य मे खबर दी गई कि विभागो की अदला-बदली प्रधानमंत्री का अधिकार है, हालाकि ऐसा करते हुए भी श्री मुरारजी भाई उप-प्रधानमंत्री बने रहेगे तथा उनका मान-सम्मान पूरी तरह सुरक्षित रहेगा। श्री मुरारजी भाई ही नही, देश के तमाम सुलझे हुए व्यक्तियो को यह निरंकुश एकाधिकारवाद और राजनीतिक अशिष्टता बुरी लगी। परिणाम हुआ श्री देसाई का मंत्रिमंडल से तुरन्त त्यागपत्र और इस त्यागपत्र के बाद कांग्रेस के विघटन का स्पष्ट संकेत।

श्री प्रभाकर ने इस त्यागपत्र पर 'नया जीवन' मे अपनी प्रतिक्रिया इस तरह व्यक्त की है—"श्री मुरारजी भाई ने राजनीति छोड़कर भावुकता की बैसाखी सभाल ली।" जबकि श्री देसाई ने भी लाचार होकर वही रास्ता अपनाया था जो बहुत पहले कांग्रेस मे कभी आचार्य कृपलानी, राजर्षि टंडन या बाद मे बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने अपनाया था। पर बहुत देर हो चुकी थी। प्रचार के नुकीले दांतो ने सत्य को जगह-जगह से काट डाला था। इसके बावजूद गांधीवादी मुरारजी भाई ने वही किया जो कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति और नैतिक मूल्यों का हामी नीतिज्ञ कर सकता था।

श्रीमती गाधी ने मुरारजी के हटते ही तुरत एक प्रचारात्मक पत्ता फेंका—१४ प्रमुख भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके। राष्ट्रीयकरण की इस घोषणा के साथ पुन सब्जबागो की लाखो क्यारिया हिन्दुस्तान की गरीबी के सामने फेंक दी गईं। इस तरह यह सिद्ध कर दिया गया कि मुरारजी भाई और उनके साथी ही थे, जिनके कारण इन्दिराजी गरीबों के लिए कुछ नही कर पाई थी। इस स्थिति का राजनीतिक वर्णन करते हुए श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर लिखते है—"इन्दिराजी प्रगतिशील शासक के रूप मे अपने आकार से कई फुट लम्बी हो गईं और मुरारजी देसाई और उनके साथी प्रतिक्रियावाद के प्रेतो के हुलिया मे सामने आ गए।"

यदि आज के सदर्भ मे देखा जाए, तो स्थिति कुछ और ही नजर आती है। उपर्युक्त शब्द पढते हुए मुझे लगता है कि इन्दिरा शासन के शक्तिशाली प्रचार-तंत्र ने (आश्चर्यजनक रूप से ही सही, पर सच मे) गहरी पैठ के पत्रकारों को भी कम प्रभावित नही किया था। अगर ऐसा न होता तो सभवत प्रभाकरजी मुरारजी प्रभृति राजनीतिज्ञो के बारे मे उस प्रचारात्मक फ्रेम मे न सोचते, जिसमे सोचते हुए लगते हैं। मुरारजी या उसी तरह के पुराने कांग्रेसजनों के बारे में बहुत जल्दबाजी से सोचना बहुत गलत हुआ, यह आज

की गूंज थी, इन्दिरा गांधी को अंतिम रूप से विश्वास दिला दिया कि कांग्रेस की इन दो प्रवृत्तियों में अब कोई समझौता नहीं हो सकता…"

श्री अब्बास के पत्रकारीय करिश्मे की सराहना करने का जी होता है। किसी स्थिति-विशेष के साथ वक्तव्य के कुछ अंश या शब्दों का अपनी तरह अर्थ निकालने को करिश्मा ही माना जाना चाहिए। एक तरह से उपर्युक्त लेखन में श्री अब्बास ने निजलिंगप्पा और मुरारजी भाई को बड़ी सुविधा से निजी उद्योग के एकाधिकारवाद का समर्थक प्रकट कर दिया, जब कि उसी बात का अर्थ कुछ और था। वह निस्सन्देह नहीं, जो निकाला गया। एक तरह से कांग्रेस के भीतर उठे व्यक्तिवादी और लोकतंत्री संघर्ष को, कम्यूनिस्ट पत्रों, प्रचारकों और इन्दिराजी के शासन-तंत्र ने बड़ी सुविधा से जनता के सामने जो नया रूप दिया वह था—समाजवादी और पूंजीवादी गुटों का संघर्ष! जबकि सच में यह संघर्ष हो रहा था इन्दिराजी के एकाधिकारवाद और कांग्रेस के लोकतंत्रवाद में। पर प्रचार-तंत्र की ताकत बहुत होती है। वही हिटलरी पद्धति। हिटलर का युद्ध-प्रचार अधिकारी गोयबल्स कहा करता था—"एक झूठ को हज़ार बार दोहराओ तो वह सच बन जाता है…" उसी ढंग से कांग्रेस के पुराने नेताओं यथा कामराज, निजलिंगप्पा, मुरारजी भाई आदि के बारे यह झूठ कि वे पूंजीवादी शक्तियों के प्रतिनिधि हैं, इतनी बार कहा, लिखा, फैलाया और सुनाया गया कि जनता में उनके प्रति खासी भ्रांति फैल गई। विशेषकर श्री मुरारजी भाई के बारे में। यों भी श्री मुरारजी भाई स्वर्गीय श्री जवाहरलालजी के समय से ही प्रधानमंत्री पद के सबसे ताकतवर उत्तराधिकारी थे। उनके बारे में इसी तरह का योजनाबद्ध प्रचार नेहरूजी के समय से ही चलता रहा था, इन्दिराजी ने उस प्रचार को लाख गुना कर दिया। और उसका लाभ उन्हें (इन्दिराजी को) बाद में बहुत मिला।

प्रचार के दम पर देश की सत्ता हथियाए रखने की प्रवृत्ति ने अपने रंग दिखलाने शुरू कर दिए थे। जनता को नये-नये सम्मोहन-स्वप्न दिखाए जा रहे थे और केवल कथनी चल रही थी। मीटिंगें, भाषण, पोस्टर सभी कुछ सिर्फ नये-नये नारों और चमत्कारों से भरे सुनहरे लोक जनता को दिखाते रहते। काम करने वाले लोग इस स्थिति को सह नहीं पा रहे थे। परिणाम हुआ दरार बढ़ते जाना। यह दरार इतनी बढ़ी कि विस्फोट की सीमा पर जा ठहरी। इस सीमा को श्रीमती गांधी ने उस समय अन्तिम बार कुरेदा जब अचानक श्री मुरारजी भाई से वित्त विभाग अपने हाथ में ले लिया और

समाचारपत्रों द्वारा जनता को एक वक्तव्य में खबर दी गई कि विभागों की अदला-बदली प्रधानमंत्री का अधिकार है, हालांकि ऐसा करते हुए भी श्री मुरारजी भाई उप-प्रधानमंत्री बने रहेंगे तथा उनका मान-सम्मान पूरी तरह सुरक्षित रहेगा। श्री मुरारजी भाई ही नहीं, देश के तमाम सुलझे हुए व्यक्तियों को यह निरंकुश एकाधिकारवाद और राजनीतिक अशिष्टता बुरी लगी। परिणाम हुआ श्री देसाई का मंत्रिमंडल से तुरन्त त्यागपत्र और इस त्यागपत्र के बाद कांग्रेस के विघटन का स्पष्ट संकेत।

श्री प्रभाकर ने इस त्यागपत्र पर 'नया जीवन' मे अपनी प्रतिक्रिया इस तरह व्यक्त की है—"श्री मुरारजी भाई ने राजनीति छोड़कर भावुकता की वैसाखी संभाल ली।" जबकि श्री देसाई ने भी लाचार होकर वही रास्ता अपनाया था जो बहुत पहले कांग्रेस मे कभी आचार्य कृपलानी, राजर्षि टंडन या बाद में बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने अपनाया था। पर बहुत देर हो चुकी थी। प्रचार के नुकीले दांतों ने सत्य को जगह-जगह से काट डाला था। इसके बावजूद गांधीवादी मुरारजी भाई ने वही किया जो कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति और नैतिक मूल्यों का हामी नीतिज्ञ कर सकता था।

श्रीमती गांधी ने मुरारजी के हटते ही तुरत एक प्रचारात्मक पत्ता फेंका—१४ प्रमुख भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके। राष्ट्रीयकरण की इस घोषणा के साथ पुन सब्जबागों की लाखों क्यारिया हिन्दुस्तान की गरीबी के सामने फेंक दी गई। इस तरह यह सिद्ध कर दिया गया कि मुरारजी भाई और उनके साथी ही थे, जिनके कारण इन्दिराजी गरीबो के लिए कुछ नही कर पाई थी। इस स्थिति का राजनीतिक वर्णन करते हुए श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर लिखते है—"इन्दिराजी प्रगतिशील शासक के रूप मे अपने आकार से कई फुट लम्बी हो गई और मुरारजी देसाई और उनके साथी प्रतिक्रियावाद के प्रेतों के हुलिया मे सामने आ गए।"

यदि आज के संदर्भ में देखा जाए, तो स्थिति कुछ और ही नज़र आती है। उपर्युक्त शब्द पढ़ते हुए मुझे लगता है कि इन्दिरा शासन के शक्तिशाली प्रचार-तंत्र ने (आश्चर्यजनक रूप से ही सही, पर सच मे) गहरी पैठ के पत्रकारो को भी कम प्रभावित नही किया था। अगर ऐसा न होता तो सभवत प्रभाकरजी मुरारजी प्रभृत्ति राजनीतिज्ञों के बारे मे उस प्रचारात्मक फ्रेम मे न सोचते, जिसमे सोचते हुए लगते है। मुरारजी या उसी तरह के पुराने कांग्रेसजनों के बारे में बहुत जल्दबाज़ी से सोचना बहुत गलत हुआ, यह आज

करोड़ों लोगों के सामने प्रकट हो चुका है। मुरारजी घोर गांधीवादी हैं और मेरा खयाल है कि उप-प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र देना गांधीजी के उस वाक्य पर ही आधारित था, जिसमें वह कहते हैं—"मेरी मृत्यु के बाद यदि अहिंसा (सत्य) का नाश हो जाए तो मान लेना चाहिए कि मुझमें अहिंसा (सत्य) थी ही नहीं।"[1]

एक अन्य स्थान पर बापू ने अहिंसा को सत्य का पर्याय ही माना है। तो यदि बापू के उपर्युक्त कथन के आधार पर माना जाए कि मुरारजी भाई ने सत्य या अहिंसा के नाम पर त्यागपत्र दिया था और वह थोड़े-से समय के लिए गलत तरह प्रचारित कर लिया गया तो इससे उसका सत्य तो नहीं मरा। आज जब आपातकाल अपनी ही मौत मर चुका है, तब वह सत्य सामने है। और यह भी कि जिस पद को ठोकर मारकर उन्होंने अपने सत्य की रक्षा की थी, उससे बड़ा पद जनता ने उन्हें असत्य के हाथों से छीनकर सौंप दिया है।

कांग्रेसी शीशमहल : पहली दरार

श्रीमती गांधी ने समझ लिया था कि अब निष्कंटक राज्य उनके हाथ में है। इसका पहला राजनीतिक चमत्कार उन्होंने उस समय दिखाया जब डॉक्टर जाकिर हुसेन की मृत्यु के बाद उन्होंने कांग्रेस के उम्मीदवार श्री संजीव रेड्डी से अचानक अपना समर्थन वापस ले लिया और श्री वी० वी० गिरि के लिए समर्थन की घोषणा की। एक नया नारा भारतीय राजनीति के आकाश पर गूंजा—'आत्मा की आवाज़!' इस नारे के तहत श्रीमती गांधी की सुविधा-जीवी राजनीति ने कांग्रेस संस्था का अनुशासन पहली बार खुल्लमखुल्ला ढंग से तोड़ दिया। यह कहकर कि कांग्रेस दल के सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में स्वतंत्र रूप से मतदान कर सकते हैं। इस अनुशासन-तोड़ करिश्मे के परिणाम स्वरूप—श्री संजीव रेड्डी, जो कांग्रेस के अपने उम्मीदवार थे, पराजित हुए स्वतंत्र उम्मीदवार श्री वी० वी० गिरि ने राष्ट्रपति-चुनाव जीता तथ पदारूढ़ हुए।

इस दरार ने भारतीय कांग्रेस को टुकड़े-टुकड़े कर डाला। कांग्रेस के नाम पड़ गए। एक थी कांग्रेस, जिसकी सत्ता थी और जिसमें अध्यक्ष

---

१. बापू (पृ० ३२-३३), लेखक—श्री घनश्यामदास बिड़ला

सम्भाला था बाबू जगजीवन राम ने। (सामान्यतः इसे कांग्रेस न कहकर जन-सामान्य में 'इन्दिराजी की कांग्रेस' कहा जाता था)[1] जबकि दिग्गजों ने जिस कांग्रेस को सम्भाल लिया था, उसे कहा जाता था—संगठन कांग्रेस। तत्कालीन संसद में इन्दिरा-कांग्रेस के सदस्य थे २२०, जबकि संगठन कांग्रेस के ६५ सदस्य थे। दोनों को चुनाव-आयोग ने अलग-अलग चुनाव-चिह्न भी प्रदत्त कर दिए थे।

कांग्रेस की इस दरार को इन्दिराजी के पक्ष की ओर से एक श्रेयपूर्ण कार्य का जामा पहनाया गया और प्रचारित किया गया कि वस्तुस्थिति में गिरि की विजय और कांग्रेस और संगठन कांग्रेस बन जाना, कांग्रेस का शुद्धीकरण होना है। इस तरह पूंजीवादी ताकतों पर समाजवादी ताकतों की विजय हुई है। विशेष रूप से इस क्रान्तिकारी (?) विचार का सर्वाधिक प्रचार कर रहे थे भारतीय कम्यूनिस्ट, जो अपरोक्ष रूप से एक महान राजनीतिक दल को लगभग 'फिसड्डी' बना चुके थे।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण और श्री वी० वी० गिरि की चुनाव-विजय पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए श्री प्रभाकर और अब्बास दोनों एक ही बात लिखते हैं। यह मजेदार इत्तफाक है कि दोनों ने ही अलग-अलग मौकों पर टैक्सी-वालों और कुलियों को नाचते हुए देखा था। श्री प्रभाकर ने गिरि की जीत पर यह नाच देखा था जबकि श्री अब्बास ने बैंक राष्ट्रीयकरण पर। बाद में *इमरजेंसी के दौरान जो नाच हुआ, उसका बयान मेरे पढ़ने में उस दौरान नहीं* आया। वह नाच किन्हीं दो आदमियों ने नहीं, सारे देश ने देखा था और उस नृत्य-नाटिका का वर्णन करना ही इस पुस्तक का मूल उद्देश्य है।

द्वारे-द्वारे, हसीन नारे

करोड़ों लोगों को बतलाया गया कि करोड़ों लोग खुश हैं। कारण है—सत्तारूढ़ दल से उस भीड़ का छंट जाना, जो 'प्रगतिशील' और 'सुधारवादी' नीतियों के आड़े आकर 'क्रांतिकारी प्रधानमंत्री' को कुछ करने नहीं दे रहे थे। दिल्ली की छाती पर देश के कोने-कोने से 'चलो दिल्ली घुमाएं' कहकर

---

१. यह अपने-आपमें एक हास्यास्पद किन्तु दुःखद बात थी कि एक महान संस्था किसी व्यक्ति-विशेष का 'जेबी ट्रांज़िस्टर' बन जाए।

करोड़ों लोगों के सामने प्रकट हो चुका है। मुरारजी घोर गांधीवादी हैं और मेरा खयाल है कि उप-प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र देना गांधीजी के उस वाक्य पर ही आधारित था, जिसमें वह कहते हैं—"मेरी मृत्यु के बाद यदि अहिंसा (सत्य) का नाश हो जाए तो मान लेना चाहिए कि मुझमें अहिंसा (सत्य) थी ही नहीं।"[1]

एक अन्य स्थान पर बापू ने अहिंसा को सत्य का पर्याय ही माना है। तो यदि बापू के उपर्युक्त कथन के आधार पर माना जाए कि मुरारजी भाई ने सत्य या अहिंसा के नाम पर त्यागपत्र दिया था और वह थोड़े-से समय के लिए गलत तरह प्रचारित कर लिया गया तो इससे उसका सत्य तो नहीं मरा। आज जब आपातकाल अपनी ही मौत मर चुका है, तब वह सत्य सामने है। और यह भी कि जिस पद को ठोकर मारकर उन्होंने अपने सत्य की रक्षा की थी, उससे बड़ा पद जनता ने उन्हें असत्य के हाथों से छीनकर सौंप दिया है।

कांग्रेसी शीशमहल : पहली दरार

श्रीमती गांधी ने समझ लिया था कि अब निष्कंटक राज्य उनके हाथ में है। इसका पहला राजनीतिक चमत्कार उन्होंने उस समय दिखाया जब डॉक्टर जाकिर हुसेन की मृत्यु के बाद उन्होंने कांग्रेस के उम्मीदवार श्री संजीव रेड्डी से अचानक अपना समर्थन वापस ले लिया और श्री वी० वी० गिरि के लिए समर्थन की घोषणा की। एक नया नारा भारतीय राजनीति के आकाश पर गूंजा—'आत्मा की आवाज़!' इस नारे के तहत श्रीमती गांधी की सुविधाजीवी राजनीति ने कांग्रेस संस्था का अनुशासन पहली बार खुल्लमखुल्ला ढंग से तोड़ दिया। यह कहकर कि कांग्रेस दल के सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में स्वतंत्र रूप से मतदान कर सकते हैं। इस अनुशासन-तोड़ करिश्मे के परिणामस्वरूप—श्री संजीव रेड्डी, जो कांग्रेस के अपने उम्मीदवार थे, पराजित हुए। स्वतंत्र उम्मीदवार श्री वी० वी० गिरि ने राष्ट्रपति-चुनाव जीता तथा पदारूढ़ हुए।

इस दरार ने भारतीय कांग्रेस को टुकड़े-टुकड़े कर डाला। कांग्रेस के दो नाम पड़ गए। एक थी कांग्रेस, जिसकी सत्ता थी और जिसमें अध्यक्ष पद

---

१. बापू (पृ० ३२-३३), लेखक—श्री घनश्यामदास बिड़ला

सम्भाला था बाबू जगजीवन राम ने। (सामान्यत: इसे कांग्रेस न कहकर जन-सामान्य में 'इन्दिराजी की कांग्रेस' कहा जाता था)[1] जबकि दिग्गजों ने जिस कांग्रेस को सम्भाल लिया था, उसे कहा जाता था— संगठन कांग्रेस। तत्कालीन संसद में इन्दिरा-कांग्रेस के सदस्य थे २२०, जबकि संगठन कांग्रेस के ६५ सदस्य थे। दोनों को चुनाव-आयोग ने अलग-अलग चुनाव-चिह्न भी प्रदत्त कर दिए थे।

कांग्रेस की इस दरार को इन्दिराजी के पक्ष की ओर से एक श्रेयपूर्ण कार्य का जामा पहनाया गया और प्रचारित किया गया कि वस्तुस्थिति में गिरि की विजय और कांग्रेस और संगठन कांग्रेस बन जाना, कांग्रेस का शुद्धीकरण होना है। इस तरह पूंजीवादी ताकतों पर समाजवादी ताकतों की विजय हुई है। विशेष रूप से इस क्रान्तिकारी (?) विचार का सर्वाधिक प्रचार कर रहे थे भारतीय कम्यूनिस्ट, जो अपरोक्ष रूप से एक महान राजनीतिक दल को लगभग 'फिसड्डी' बना चुके थे।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण और श्री वी० वी० गिरि की चुनाव-विजय पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए श्री प्रभाकर और अब्बास दोनों एक ही बात लिखते हैं। यह मज़ेदार इत्तफाक है कि दोनों ने ही अलग-अलग मौकों पर टैक्सी-वालों और कुलियों को नाचते हुए देखा था। श्री प्रभाकर ने गिरि की जीत पर यह नाच देखा था जबकि श्री अब्बास ने बैंक राष्ट्रीयकरण पर। बाद में इमरजेंसी के दौरान जो नाच हुआ, उसका बयान मेरे पढ़ने में उस दौरान नहीं आया। वह नाच किन्हीं दो आदमियों ने नहीं, सारे देश ने देखा था और उस नृत्य-नाटिका का वर्णन करना ही इस पुस्तक का मूल उद्देश्य है।

द्वारे-द्वारे, हसीन नारे

करोड़ों लोगों को बतलाया गया कि करोड़ों लोग खुश हैं। कारण है— सत्तारूढ़ दल से उस भीड़ का छंट जाना, जो 'प्रगतिशील' और 'सुधारवादी' नीतियों के आड़े आकर 'क्रांतिकारी प्रधानमंत्री' को कुछ करने नहीं दे रहे थे। दिल्ली की छाती पर देश के कोने-कोने से 'चलो दिल्ली घुमाएं' कहकर

---

१. यह अपने-आपमें एक हास्यास्पद किन्तु दुःखद बात थी कि एक महान संस्था किसी व्यक्ति-विशेष का 'जेबी ट्रांज़िस्टर' बन जाए।

चार-छह महीने के बाद लाखों लोग ले आए जाते। इन लोगों का काम होता केवल यह कि भीड़ बनकर राजधानी में चीखने लगे—'इन्दिरा गांधी ज़िन्दाबाद!' 'पूंजीवादियों के ऐजेण्टों का नाश हो!' इत्यादि। फिर यह भीड़ राजधानी में जहां-तहां बिखर जाती। अजनबी, परेशान, विस्मित चेहरों की सहमी हुई भीड़। कौतुक-भरी निगाहों से राजधानी की सड़कें देखते, लालकिला घूमते और चांदनी चौक की सैर करते हुए भोले-भाले लोग अपने-अपने घरों को रवाना हो लेते।

राष्ट्रीयकरण की नीति निस्सन्देह ही अच्छी नीति थी, किन्तु कोई भी नीति उस समय उपयोगी हो पाती है, जब उसके क्रियान्वय पर योजनाबद्ध और बहुमुखी विचार किया जाए। वैसा न होकर हुआ यह था कि एक अच्छी नीति का हसीन नारे के अर्थ में उपयोग किया गया था। और लचर ढंग से लागू करने की घोषणा कर दी गई थी। ताकि सामान्य जन और भोला-भाला नागरिक समझे कि सुधारवादी प्रगतिशीलता लागू हो गई है। (इसलिए कि रोड़े छंट गए हैं।)

मुझे स्मरण है, राष्ट्रीयकरण का अध्यादेश लागू होने के बाद सीधी-सादी एक हवा माहौल में उछली थी कि बैंक अपने हो गए हैं और अब देश के किसी भी व्यक्ति को अपना काम बढ़ाने, नया रोज़गार शुरू करने या और-और योजनाओं के लिए पैसा मिलने में कोई कठिनाई नहीं रह जाएगी। सब खुश थे…पर कुछ समझदार लोग परेशान। उन्हें लग रहा था कि जिस जल्दबाज़ी में यह सब किया गया है, वह राष्ट्रीयकरण के नाम से सत्ताधारी दल और श्रीमती गांधी का जनता के लिए राजीकरण ज़्यादा है और उससे भी ज़्यादा है अपने वैचारिक विरोधियों को खास तरह बदनाम करने की कुचेष्टा। यदि ऐसा न होता तो बेसबरी के साथ इस घोषणा की कोई तुक ही नहीं थी। बेसबरी का इससे बड़ा उदाहरण और सुबूत क्या हो सकता है कि ख्वाजा साहब लिखते हैं—"उन्होंने यह साहसिक कदम अपनी निजी प्रेरणा से ही उठाया था, यद्यपि वित्त मन्त्रालय के अधिकारी और रिज़र्व बैंक के गवर्नर विरोध करते और उन्हें निरुत्साहित करते रहते। उन्होंने अपने विचारों से सहानुभूति रखने वाले कुछ चुने हुए अफसरों और (या सरकारी सामन्तों? —भ्रमर) की सलाह से यह काम किया। एक विशेष कमरा उन्हें दे दिया

*इन्दिरा गांधी : सफलता के दस वर्ष (पृ० ४८-४९), ले०—अब्बास

गया, जहा बैठकर उन्होंने बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित अध्यादेश को तैयार किया। सारी कारंवाई इतनी तेजी से और इतने गुप्त रूप से पूरी की गई कि एक वरिष्ठ कैबिनेट मन्त्री को तेज़ी के साथ यह कहते सुना गया कि 'प्रधानमंत्री को वित्त विभाग लिए हुए तीन दिन बीत चुके हैं लेकिन अभी तक राष्ट्रीयकरण नही किया गया।' एक घण्टे के भीतर ही मन्त्रिमंडल की एक आपत्कालीन बैठक के लिए उस मन्त्री को बुला लिया गया था। इसपर प्रधानमंत्री ने बैंकिंग कम्पनियो के (व्यवसायों के अधिग्रहण और हस्तातरण) अध्यादेश १६६६ पर अपने सभी सहयोगियों का एकमत समर्थन प्राप्त कर लिया।"

यह विवरण अपरोक्ष रूप से ही सही, किन्तु इस स्थिति को किसी न किसी रूप में प्रकट करता है कि एक गभीर काम को भी किस उतावली मे इसलिए किया गया था, ताकि वह एक खूबसूरत और लुभावने नारे का काम दे। यह नारा पर्याप्त काम दे भी गया। अयोजनाबद्ध कार्य के कारण बैंकों को और जन-साभान्य को बाद मे कितनी उलझन हुई, यह बतलाने की बात नही है। एक अच्छी योजना थी, जो सही तरह लागू की जाने पर तुरन्त उपयोगी हो सकती थी परन्तु उसके लिए अनुकूल हालात पैदा करने आवश्यक थे। पर हुआ यह कि जल्दबाज़ी के कारण वही योजना खंड-खंड रूप मे बरसों में ठीक-ठिकाने आ पाई। नारेबाज़ी का यह तंत्र कब तक चलेगा? इस पहलू पर विचार करने की समस्या उस समय थी ही नही, समस्या थी अपने-आपको कार्कीटी पुख्तापन देने की। भले ही इस पुख्तापन के लिए 'गरीबी हटाने' के नाम पर सीधे-सादे नागरिकों को दिमागी तौर से छला जाए। यह छल लम्बा चला। इतना लम्बा कि खुद इन्दिराजी को भी कम आश्चर्य नही हुआ होगा। एक जोरदार नारे की उछाल से उन्होने ज़रूर समझ लिया था कि लोगो की मासूमियत को बड़ी आसानी से भुनाया जा सकता है। कितना, कहा, कैसे-कैसे भुनाया गया—यह बयान क्रमशः आएगा।

राजनीति हो या सामाजिक क्षेत्र, हर जगह आदर्शवाद से भरे प्रवचन अपना एक आलकारिक जायका रखते हैं। और इस ज़ायके को इन्दिरा-शासन के दौरान जनता ने खूब चटखारे ले-लेकर महसूस किया है। बाद मे बदहज़मी से दुखी भी हुई है। श्रीमती गाधी के विभिन्न अवसरो पर विभिन्न लोगों से कहे गए कुछ शब्द मुझे याद आते हैं और आज जब मैं यहां अश-रूप में उन्हे उद्धृत कर रहा हूं, तब श्रीमती गांधी की सराहना करना चाहता हूं कि इस

देश के लोगों की एक खास नस 'भोलापन' खूब समझदारी से पकड़ी थी। अत्यंत मार्मिक शब्दों के साथ इस नस को हौले से दबाकर वोट दुह लेने का कमाल निस्सन्देह ही विलक्षण था।

"...ऐसी नीतियों का निश्चित निर्धारण आवश्यक है, जो गरीबों और ज़रूरतमन्दों की हित-चिन्ता के साथ अपने-आपको संतुलित स्थिति में जोड़ें...।" —इन्दिरा गांधी (बजट प्रस्तुतीकरण, १९७०)

"...देश में क्रांतिकारी कार्यक्रम विधि-सम्मत ढंग से लागू करने के लिए तत्पर होना होगा..."—इन्दिरा गांधी (एक भाषण, १९६९)

"... हम जनता के जीवन को स्वतंत्र-फल से समृद्ध-सम्पन्न करके उसे घर, और जीवन की सम्पूर्ण सुख-सुविधाएं देने में समर्थ हैं—इतिहास को यह बतलाना होगा।"—इन्दिरा गांधी (एक भाषण)

"जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशील होना चाहिए..."—इन्दिरा गांधी (एक पत्रकार से भेंट, ५ नवंबर, १९६९)

मगर ये चाकलेटी बातें किसपर असर कर रही थीं? उस बड़े वर्ग पर, जिसके मन में गांधी और कांग्रेस के प्रति श्रद्धा थी और जो श्रीमती इन्दिरा गांधी को उसी क्रम में देखता था, जबकि एक बड़ा वर्ग था जो यह भी महसूस कर रहा था कि हर रोज़ जनता की जीभ पर चाशनी फैलानेवाली इन बातों के बावजूद सक्रिय रूप में कुछ भी नहीं हो पा रहा है।

'कुछ भी नहीं हो रहा है' इस बात को विरोधी भी निरंतर दोहरा रहे थे, किन्तु उनकी साधनहीनता, आर्थिक लाचारी और शासकीय प्रचार-तंत्र की शक्ति ने उन्हें अपनी बात कह पाने या समझा पाने के सारे अवसर नहीं दिए थे। परिणाम हो रहा था, निरंतर इन्दिरावाद का फैलते जाना। वाद और वायदों की इस आंधी के दौरान ही चुनाव आया।

१९७१!

२७ दिसम्बर, १९७० को तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने लोकसभा भंग करने और मध्यावधि चुनाव कराए जाने का आदेश प्रसारित किया। इससे पूर्व ही श्रीमती इन्दिरा गांधी के पक्ष से इस सिलसिले में प्रचार होने लगा था कि इस चुनाव का मूल कारण है जनता से सम्पूर्ण समर्थन प्राप्त करना, ताकि पूर्ण शक्ति, विश्वास और जन-समर्थन के साथ नई नीतियों को लागू करने के क्रांतिकारी कदम श्रीमती गांधी उठा सकें। इस टिप्पणी के साथ ही यह भी कहा जा रहा था कि विरोधियों के कुतर्कों और बेहूदा

ढंग के विरोध के कारण ही श्रीमती गांधी सही तरह कार्य नहीं कर पा रही हैं।

इसके विपरीत विरोधी दलों के विभिन्न नेताओं ने राजनीतिक हालात पर बारीकी से गौर कर यह नतीजा निकाला था कि इन्दिराजी प्रजातांत्रिक दल की बैसाखी लगाकर क्रमश: तानाशाही की स्थिति तक पहुंचना चाहती है और इस तानाशाही को जन-स्वीकृति की मोहर से देश में लागू किया जाएगा। अनेक शीर्षस्थ नेताओं के तत्कालीन भाषण-अंश इस बात के गवाह है कि लगभग सभी नेता श्रीमती गांधी की राजनीतिक विचारधारा और व्यक्तिवाद को भली तरह समझ चुके थे। तपस्वी, कर्मठ और शांत स्वभाव राजनीतिज्ञ आचार्य कृपलानी ने उसी समय कह दिया था—"इन्दिरा गांधी को जिताना एक तरह से देश को तानाशाही की ओर धकेलना है। आज जिस अराजकता की बाढ़ में देश उलझ गया है, वह इन्दिरा गांधी की ही देन है।"

श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने एक भाषण में जनता से अपील की थी कि वे उस समय के महागठबंधन (संगठन कांग्रेस, जनसंघ, सोशलिस्ट पार्टी और भारतीय क्रांति दल) को जिताएं ताकि लोकतंत्र जीवित रह सके। तथाकथित नई कांग्रेस को जिताने का मतलब होगा एक महान लोकतांत्रिक देश से लोकतंत्र की जड खोद डालना। श्री वाजपेयी ने विश्वास प्रकट किया था कि जनता भी उस तरह समझ पा रही होगी, जिस तरह देश के औसत पुराने और सुलझे हुए राजनीतिज्ञ स्थिति की जटिलता समझ पा रहे है।

पर आचार्य कृपलानी, कामराज, अतुल्य घोष, अटलबिहारी वाजपेयी, मधु लिमये, राजनारायण और जॉर्ज फर्नांडिस जैसे राजनीतिज्ञ यह अन्तर नहीं कर सके थे कि जिस बारीकी, दूरदर्शिता और गंभीरता से वे इन्दिरा-शासन के भविष्य की तसवीर देख रहे हैं, भारत का सीधा, सरल, लोकतंत्री मतदाता उस तरह नहीं देख पा रहा है। एक और कारण था—मतदाता के सामने फैला विशाल और असीमित सरकारी प्रचार-तंत्र के अतिरिक्त कांग्रेस का अपना शक्तिशाली आर्थिक तंत्र—जो सही स्थिति न तो उसे समझने का अवसर दे रहा था और न ही विरोधी दलों की बात सुन-समझ पाने की स्थितियां रहने दे रहा था।

इस सबके अलावा थे, चाटुकार पत्रकार, लेखक (बुद्धिजीवी ?) जो टिप्पणियां लिखकर, नये-नये नारों की सर्जना करके या पुस्तकें लिखकर निरंतर

उस शक्ति को बढ़ावा दे रहे थे, जो आगे चलकर उन्हींकी ज़बान बन्द करने वाली थी, उन्हींकी नाक में नकेल डालनेवाली थी और उन्हींके ज्ञान (अज्ञान) पर उन्हींको ज्ञानदान करनेवाली थी।

इस सबके साथ थी भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की दोगली राजनीति, जिस राजनीति ने हमेशा ही देश में अस्थायित्व और अराजकता के निर्माण की धरती पैदा की थी। स्वतंत्रता-आन्दोलन में वह साम्राज्यवादी ब्रिटिश शक्ति की पक्षधर रही तो दूसरी ओर कांग्रेस में उसने गांधीवाद का मुखौटा ओढ़कर अपने आदमी घुसाने और गड़बड़ी फैलाकर अनुशासनहीनता का वातावरण बनाने का रोल अदा किया। देश में राजनीतिक गड़बड़ी फैलाने की दूरदर्शी निगाह ने ही कम्यूनिस्टों को उस समय श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ किया था। लोकतंत्री नेताओं की तरह कम्यूनिस्ट नेता भी अच्छी तरह समझ चुके थे कि श्रीमती गांधी अन्ततोगत्वा उसी राह पर जानेवाली हैं, जिस राह पर कभी हिटलर जर्मनी में आया था…किन्तु यह राह निश्चित रूप से जन-असंतोष की जनक होनेवाली है और असंतोष की आपाधापी ही 'कम्यूनिस्टिक क्रांति' की ज़मीन बनती है। ज़मीन बनाने के लिए उन्होंने इन्दिरा गांधी के समर्थन में वह-वह दौड़ें लगाईं कि अचरज होता था। लगता था जैसे इन्दिरा गांधी और उनकी पॉकेट-ट्रांजिस्टर कांग्रेस को जिताने की जितनी चिन्ता कम्यूनिस्टों को है, शायद कांग्रेसियों को भी उतनी नहीं है।

जिस शान्तिवाद की बात व्यक्तिरूप में उछालते हुए लोग कांग्रेस में मसीहा बन गए, वह भारतीय जन-मानस और संस्कृति में ही व्याप्त है। धैर्य, संयम और विश्वास के शाश्वत नैतिक मूल्यों पर भारतीय हमेशा ही खड़ा रहा है। कांग्रेस ने स्वतंत्रता के बाद जितनी नारेबाज़ी की, उस नारेबाज़ी और राजनीतिक दांवपेंच में उलझे हुए भारतीय मतदाता ने एक बार फिर श्रीमती गांधी और उनके दल को महागठबंधन के विरुद्ध भारी मतों से जिताया।

श्रीमती गांधी की विजय पर तीव्रबुद्धि (?) पत्रकारों ने भारी-भारी टिप्पणियां और संपादकीय लिखकर कहा कि यह विजय जन-विजय है। सचमुच यह अचरज की बात है कि उतने अनुभवी और समझदार कहे जानेवाले पत्रकार और राजनीति-समीक्षक यह कैसे भूल गए कि तानाशाही भी लोकतंत्र का रूप धरकर आती रही है—विश्व-इतिहास गवाह है। क्या इसका कारण यह था कि ऐसे पत्रकार जानते नहीं थे कि इन्दिराजी का व्यक्तिवादी रूप क्या है और उनके

स्वभाव मे किस अंश का ज्यादा जोर है ? मैं नही मान सकता कि नही जानते थे। सच यह है कि जानते-समझते हुए भी वे इस सबका समर्थन कर रहे थे··· राजकीय कृपा के लोभ मे।

यह कि ऐसे लोग जानते थे कि उनका हश्र क्या होगा ? या यह कि व्यक्तिवादी स्वभाव को समझ लेने के पश्चात् सुख-साधनों के मोह ने उन्हें चुपचाप एक गलत स्थिति को समर्थित करते रहने के लिए बाध्य किया था ?

और जो बाध्य नही हुए थे या जो अपने धर्म के प्रति मुस्तैद थे, बाद में हुए उनके हश्र ने बहुत-सो के मुहों पर ताले डाल दिए थे। इसका बड़ा उदाहरण रहे श्री वर्गीस (हिन्दुस्तान टाइम्स के सपादक), जिन्हे सच बोलने की बहुत कुछ सजा भोगनी पड़ी। लोकसभा मे और बाहर वर्गीस की सेवा-मुक्ति को लेकर विवाद उठा था जिसपर श्रीमती गाधी ने एक वक्तव्य देकर कहा था कि वर्गीस की सेवा-मुक्ति के बारे मे उन्हें कुछ नही मालूम।

श्री वर्गीस हिन्दुस्तान टाइम्स लि० के अधिकारी थे और बाहरी तौर पर यह भी कहा जा सकता है कि प्रधानमत्री या किसी मत्री से उनका क्या सम्बध बनता था कि उन्हें निकाला जाए या रखा जाए—पर इस तरह सोचते हुए यह कैसे भूला जा सकता है कि सत्ता-शक्ति के कुछ अदृश्य हाथ होते है और इन हाथों की सीमा अनत है। इस अनत की शक्ति आपातकाल के दौरान देश मे खूब देखी गई है।

मार्च १९७१ के नया जीवन' मे सम्पादक ने लिखा—"····यह जीत है श्रीमती इन्दिरा गाधी के प्रति जनता की सहज चेतना से भरे विश्वास की · "

और इस शानदार जन-समर्थन और जीत का लाभ क्या उठाया गया ? 'जनता की सहज चेतना से भरे विश्वास' के प्रति उस जनता को क्या भोगना पडा ?···अश रूप मे वही, जो कभी एडाल्फ हिटलर के समय जर्मनी की धरती ने भोगा था ! पर वह विवरण बाद मे, पहले व्यक्तिवाद और फिर तानाशाही के क्रमश. जमते पैरों की सक्षिप्त कहानी का सिलसिला।

१९७१ के चुनाव मे जितने हसीन नारे उछले थे, यथा—स्थायित्व, साम्प्रदायिकता से रक्षा, पूंजीवादी एजेन्टों से बचाव, लोकतत्र की स्थापना, अराधना आदि उनसे कही ज्यादा नारे देश के आसमान पर इन्दिराजी के बहुमत से विजयी होकर आने के बाद उछलने शुरू हुए। नारो पर देश को चलाने की यह तरकीब नई नही थी। यह तरकीब विरासत मे मिली हुई थी। और यह समझ

भी कि आसमान का मौसम देखकर कब कौन-सा नारा पतंग की तरह उड़ाने से जनता की आंखें ऊपर ही टंगी रह जाती हैं।

१९७१ के चुनाव के बाद सत्तारूढ़ कांग्रेस दल की फिज़ा पूर्वापेक्षा कई हज़ार गुना बढ़ा दी गई थी। यह फिज़ा 'जनता के लिए जनता की बात' के अर्थों में बनाई गई थी। फूहड़ और उथली शब्दबाज़ी से उन गणमान्य नेताओं, यहां तक कि लोकतंत्री दलों के नाम उछाले जाने लगे थे, जिनका देश के स्वतंत्रता-संघर्ष में एक ऊंचा स्थान था। श्री प्रभाकर ने अपना एक संस्मरण लिखते हुए कुछ-कुछ इसी तरह की बात स्वयं भी की थी। उन्होंने अपनी पुस्तक में बयान किया है कि उनके कुछ मित्रों ने १९७१ के चुनाव के दौरान जब उन्हें यह समाचार दिया कि जनसंघ, संगठन कांग्रेस, बी० के० डी० और सोशलिस्ट पार्टी गठबंधन करके इन्दिरा जी और उनकी कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव लड़ रहे हैं तो उन्होंने (श्री प्रभाकर ने) फरमाया—"यारो, चार कोढ़न मिल जाएं तो क्या एक नूरजहां बन जाती है?'

ऐसी ही नारेबाज़ी इन्दिराजी के मंच से भी होती थी। इसकी स्वीकारोक्ति करते हुए ख्वाज़ा अहमद अब्बास लिखते हैं—"अधिकतर लोग समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के इन्दिरा गांधी के मंच से दिए गए वेगशील नारों से आकर्षित हुए थे..."

नारेबाज़ी पर सत्ता में जिए जाने के इस सिद्धांत के नये न होने की बात मैंने शुरू में की थी। यह नारेबाज़ी नेहरूजी से शुरू हुई थी और कांग्रेस में इसका इतिहास काफी पुराना है। उदाहरण के रूप में डॉ० राममनोहर लोहिया ने नेहरू सरकार पर आरोप लगाया था—"सबसे पहला आरोप मैं इस सरकार के खिलाफ यह लगाना चाहता हूं कि यह अज्ञान के आधार पर बांझ और परिणामहीन लफ्फाज़ी तथा शब्दजोश के ऊपर अपना कामकाज चला रही है।"[1]

यही नहीं, इसी भाषण में डॉ० लोहिया ने आगे कहा था—"प्रधानमंत्री साहब वामपंथी कहते हैं अपने को, शायद दिखाऊ वामपंथी हैं। उनके मुंह में वामपंथ और समाजवाद रहता है, लेकिन उनके हाथों में पूंजीवाद भी नहीं, सामन्तवाद रहता है!"

---

१. २१ अगस्त, १९६३ को लोकसभा में डॉ० लोहिया का भाषण, जो कांग्रेस के विरुद्ध पहले अविश्वास-प्रस्ताव पर दिया गया।

जाहिर है और जैसा कि मैं पूर्व मे लिख चुका हूं, यह विरासती सामन्तवाद १९७१ के चुनाव में जबरदस्त लोकमत पाकर उस बावलेपन पर आ पहुंचा जिसे सम्पूर्ण तानाशाही कहा जाता है और इस तरह की प्रवृत्ति को बढ़ावा दे रहे थे वे लोग, जिनकी अंगुलियों में ईश्वर ने कलम इसलिए सौंपी है कि वे मानवीय मूल्यों की रक्षा करें। मानव के जन्मसिद्ध अधिकार स्वातत्र्य के रखवाले बनें"

एक उदाहरण है—श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर का यह लिखना—"...युग का तकाजा है कि इस कल्पना की पूर्ति के लिए श्रीमती इन्दिरा गांधी फ्रांस के जनरल दिगाल जैसा रूप लें और हरेक देशभक्त अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने कर्तव्य का पालन करे।"[1]

केन्द्र की सम्पूर्ण शक्ति हाथ में ले लेने के बावजूद श्रीमती गाधी यह निरंतर महसूस कर रही थी कि उस समय तक 'अपना चक्र' ठीक तरह नही घूम सकेगा, जब तक कि राज्यो को लौट-पलटकर उनमे अपने आदमियो को न बैठा दिया जाए। सहज ही था यह। जब जो मुगल सम्राट् आया करता था. वह साम्राज्य को अपनी तरह चालित करने के लिए सूबेदार बदल दिया करता था। यही हुआ '७१ के बाद। एक ओर केन्द्र-स्तर पर सूबेदार, हवलदार बदले गए, दूसरी ओर राज्य-स्तर पर नायकों मे परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। यही कारण था कि ५ मार्च, १९७२ मे देश के सोलह राज्यों और दो केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों मे मतदान आरंभ हुआ। देश एक बार फिर 'जलेबिया नारों' की चाशनी से भीग गया। जनता की चेतना से भरे विश्वास ने पुन रगत दिखलाई और संविद सरकारों को बडी सुविधा से गिरा लिया गया। अब अपने सूबेदार थे, अपने जमादार। राज-काज आरंभ हुआ।

इस सारे दौर में श्रीमती इन्दिरा गाधी को अधिनायकवाद की ओर बढ़ने के लिए भारतीय पत्रकार निरंतर उत्साहित कर रहे थे। एक ओर बहुत-से कम्यूनिस्ट लेखक और पार्टी के सदस्य-लेखक थे, जिनके सोच मार्क्सवाद की फ्रेम मे बधे-बधाए निकलते थे, दूसरी ओर तथाकथित गाधीवादी कांग्रेसी भी थे, जो परोक्ष और अपरोक्ष रूप से इन्दिराजी के उत्तेजित व्यक्तिवाद को अधिनायकवाद मे बदलने के लिए उत्साहित कर रहे थे। इस सन्दर्भ में प्रभाकरजी

---

१. नया जीवन, मार्च, १९७४

की एक टिप्पणी, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं ही बड़े गौरव के साथ किया है, देता हूं :

"...अधकचरा संविधान आपके रास्ते में बाधक है। तब भी कोई बात नहीं। प्रजातन्त्र अपनी रक्षा के लिए आपको जनरल दिगाल की तरह प्रजातन्त्री अधिनायक के अधिकार देने को सहर्ष तैयार है।"

अधिनायकवाद के साथ प्रजातन्त्र! कितनी हास्यास्पद स्थिति है! ऐसे ही जैसे कहा जाए कि हम किसी मदांध को यह अधिकार देते हैं कि यह अपना महान धर्म लाठी के ज़ोर पर संसार में फैला दे।

और कौन दे रहा था यह अधिकार? प्रभाकरजी? हां, शायद सिर्फ प्रभाकरजी। इस देश में इस तरह के कितने 'सिर्फ' रहे होंगे? पर इस तरह के जितने 'गिने-चुने सिर्फ' थे, उनके पास अपनी बात कहने-सुनाने के साधन थे, परिचय थे। परिणाम हुआ एक गलत रास्ते पर जाते राहगीर का और गलत हो जाना। वह राहगीर, जो मंच से कह कुछ रहा था और जीवन में कर कुछ रहा था। वह राहगीर, जो रास्ते को सही बतलाते हुए अपने साथ-साथ चलने वाले लोगों को भी गलत रास्ते चलाता चला गया।

बेहद मज़ेदार बात यह थी कि १९७१ में शासनारूढ़ होते ही श्रीमती इन्दिरा गांधी व्यक्तिवादी न रहकर अधिनायकवादी हो गई। 'जन-अदालत' के नाम पर उन्होंने सत्तारोहण किया था, उसी जन-अदालत में चुनाव के दौरान कभी उन्होंने विरोधी दलों पर आरोप लगाए थे—एक बार बोली थीं, "आज मैं संघ के नेताओं से पूछना चाहूंगी कि उनमें से कितने ऐसे अत्याचारों को सहते हैं और उनका मुकाबला करने का दावा करते हैं। मैं उनसे पूछना चाहूंगी कि उनमें से कितनों ने, खतरे झेलने की बात छोड़िए, आज़ादी के भी नारे लगाए हैं? उनमें से कितनों ने अपनी गलियों में, और अपने घरों में आज़ादी के झंडे ऊंचे किए हैं?"

और उसी जन-अदालत का गला उन्होंने आपातकाल के दौरान घोंट दिया। उसी जन-अदालत का जिसने उन्हें 'छत्रपति' बनाया था। आपातकाल के बीस माह उस रुंधे हुए संघर्ष की तकलीफदेह कहानी हैं, जिसे तानाशाही के पंजों से मुक्ति के लिए जनता ने किया।

यही जन-अदालत थी, जिसने उन बीस माहों में भूल-सुधार किया और श्रीमती गांधी ने अपनी मोहक भाषा और पूर्वजों के त्याग के नाम पर जिन

करोडो लोगों के दिमाग मे विरोधियो के प्रति विचित्र-सा कल्पित भय समो दिया था, उन्हे स्वीकार किया।

प्रगतिशील कार्यक्रम लागू करने की पुकार लगाकर श्रीमती गाधी ने १९७१ के चुनावों में जिस जन-अदालत के द्वारा अपने को जबरदस्त समर्थन मे स्थापित किया था, बाद मे उसी जन-अदालत की शक्ति और सार्वभौमिकता का मजाक उड़ना शुरू हुआ। भारतीय संविधान के अनुसार जनता को जो लोकतांत्रिक अधिकार प्राप्त थे, उनका हनन किया गया और इसकी बुनियाद पडी, ४ अगस्त के उस दिन जब ३८४ मतों के भारी बहुमत से सविधान का २४वा सशोधन संसद में स्वीकार लिया गया। इस संशोधन के अनुसार अब संसद को यह अधिकार प्राप्त हो गया था कि वह संविधान के किसी भी हिस्से को बदल सकती है। हैरानी और दु:ख की बात यह है कि इस संशोधन विधेयक को सदन मे स्वीकृति के लिए पेश करते हुए प्रधानमंत्री श्रीमती गाधी ने उत्साहित स्वर मे कहा कि यह विधेयक लोकतंत्र और समाजवाद की दिशा में एक क्रांतिकारी और महान कदम है।

कैसी विरोधाभास की स्थिति थी? श्रीमती गाधी ने १९७१ का अपना चुनाव-प्रचार करते हुए लोकतंत्र, जनता, जन-अदालत और मानवीय मूल्यों की दुहाई दी थी, उन्हीं श्रीमती गाधी ने बड़े गौरव के साथ सविधान मे अपने अधिनायकवाद की रक्षा के लिए जो चाहे परिवर्तन करने की एक औपचारिक स्वीकृति ली। मुझे याद आता है, अगस्त माह मे जब तानाशाही की स्पष्ट बुनियाद पड़ी, तब चाटुकार लेखक, कवि, पत्रकार यह कहते नहीं अघा रहे थे कि अब देश में क्रांति का समय आया है। अब तक हम जिस सविधान पर खडे थे, वह प्रतिक्रियावादी किस्म का था।

पर कुछ लोग थे, जिन्होंने आगामी खतरे को खूब भाप लिया। वे समझ चुके थे कि सर्वशक्तिसम्पन्न बनने की दिशा में यह पहला कदम है। ऐसे लोगो, पत्रकारों और नेताओं ने तत्काल वक्तव्य देकर इस संशोधन को गलत भी बतलाया था। उन आगामी खतरो का भी सकेत किया था, जिन्हें बाद मे जन-मानस ने भोगा, पर इससे पहले कि सामान्य लोग स्थिति को समझ सकें, श्रीमती गाधी ने एक जबरदस्त स्टंट फेंककर लोगों का ध्यान उस ओर से हटा लिया। ठीक ४ दिन बाद ही (६ अगस्त, १९७१ को) संसद में पुन: एक संशोधन विधेयक प्रस्तुत हुआ। इसके अनुसार भूतपूर्व शासकों के विशेषाधिकार समाप्त किए जाने थे।

सचमुच तुरुप चाल की इस राजनीति की मैं बार-बार सराहना करना चाहूंगा। भोलेभाले करोड़ों लोगों को राजाओं के प्रिवीपर्स और विशेषाधिकार-समाप्ति के इस २६वें संशोधन विधेयक की खुशी में याद ही नहीं रहा था कि उससे पहले, सिर्फ चार दिन पहले, श्रीमती गांधी ने २४वें विधेयक के द्वारा एक अफलातूनी ताकत भी हासिल कर ली है।

विरोधी चिल्लाए, गलत के प्रति विरोध की कुछ आवाज़ें जनता में से भी उठीं, किन्तु शासकीय प्रोपेगेण्डे के सामने वे नक्कारखाने में तूती की आवाज़ सिद्ध हुईं। हो सकता था कि कुछ गुनगुनी आवाज जनता तक पहुंचती, किन्तु फौरन बाद, यानी ६ अगस्त १६७१ को ही राज़धानी दिल्ली में किराये के लाखों लोग लाकर एक जन-रैली निकाली गई और कहा गया कि इन्दिराजी के क्रांतिकारी कामों के समर्थन में भारतीय जनता हर्ष व्यक्त करने राजधानी में आई है।

अजीब बात यह थी कि इस रैली में, जिसमें लगभग आठ लाख व्यक्ति बतलाए गए थे, ज़्यादातर लोग वे थे, जो दूर-दराज़ गांवों से दिल्ली-दर्शन करने आए थे। ऐसे कुछ लोगों से मेरी भी भेंट हुई थी, क्योंकि वे मध्यप्रदेश के शिवपुरी जिले के एक गांव से आए हुए थे और मुझसे मिलने इसलिए आए थे कि उनके गांव में मेरी रिश्तेदारी है।

ऐसे ही एक महाशय मेरे पास आकर बहुत खेदपूर्वक बतलाने लगे थे कि हम तो खाना, भत्ता और दिल्ली घूमने के चक्कर में चले आए, पर यहां आकर मालूम हुआ है कि खाने-पीने का कोई ठिकाना नहीं है। यही नहीं, वे इस बात से भी चिन्तित थे कि क्या मालूम यहां से वापसी के लिए वह ट्रक उपलब्ध हो सकेगा या नहीं, जो उन्हें ढोकर ग्वालियर से ले आया था।

रैली में हुई भीड़ के दर्शन मैंने स्वयं किए थे। शाम को पांच बजे अंसारी रोड की एक गली में, जिसके पिछवाड़े की ओर राजघाट रोड है, लाखों की संख्या में पर्दानशीन औरतें, मर्द और बच्चे भेड़ों के गल्लों की शक्लों में घूमते नज़र आ रहे थे। ये लोग सिरों पर समान की पोटलियां या हाथों में थैले लिए हुए बदहवास दीखते थे। बतलाया गया था कि ये सभी महान विचारों के समर्थक हैं, और श्रीमती गांधी के क्रांतिकारी दृष्टिकोण और कार्यक्रमों का समर्थन करने के लिए दूर-दराज से आए हुए हैं। जबकि सच यह था कि उन्हें चरका देकर दिल्ली शहर में ढो लाया गया था और अब वे एक महानगर की अजनबी गहराइयों और माहौल में घबराए हुए उन वाहनों को तलाश कर रहे

थे, जो उन्हें रामलीला मैदान मे एकजुट बनाकर शहर के जिस हिस्से मे जगह मिली, जा दुबके थे।

इस रैली मे नारों को और हसीन बनाया गया। वही पुराना नारा, जो १६७१ से पहले के चुनाव मे भी उठा था—गरीबी हटाने का नारा। इस बार बदल गया था। अब उसके कवित्वपूर्ण शब्द आमसभा की छाती पर लटके हुए थे—'गरीबी हटाएंगे, समाजवाद लाएंगे।'

जन-क्रांति की पहली चिनगारी

इमरजेंसी के दौरान और उसके पूर्व ऐसी पुस्तको की एक बाढ मिलती है, जिनके हर सर्जक ने श्रीमती गांधी के कार्यकलापों की प्रसशा करते हुए उन्हे निरतर अधिनायकवाद की ओर बढाया और हर ऐसे लेखक ने एक-दूसरे से आगे बढ़कर श्रीमती गाधी के लिए वफादारी के वायदे किए। सबसे दिलचस्प बात यह थी ऐसा हर कृतिकार अपने को उसी ढग से घोर समाजवादी *और लोकतांत्रिक सिद्ध करने मे लगा हुआ था, जिस तरह श्रीमती गाधी प्रशासन मे नारे फैलाती रही थी।* और *जिस तरह इन नारों के अनुसार* भारत का हर विरोधी दल साम्प्रदायिक, तानाशाह या पूजीपतियों का गुर्गा बना हुआ था, उसी तरह इन टिप्पणीकारो या लेखकों के लिए वह था। सोशलिस्ट पार्टी, जनसघ, सगठन कांग्रेस, भारतीय क्राति दल, मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट दल और कई दल एकभाव से इन्ही परिभाषाओ मे प्रचारित किए जा रहे थे और एकमात्र दल बचा था, श्रीमती गाधी का कांग्रेस दल जो समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता, अहिंसा, शान्ति, क्राति और प्रगतिशीलता से ओतप्रोत था। क्या यह बात अपने-आपमे कम विस्मयजनक है कि देश की आबादी के अस्सी प्रतिशत मे बटे दल गलत थे और केवल बीस प्रतिशत को बटोरकर बना ली गई भीड़ कांग्रेस सही थी?

१६७१ के लोकसभा चुनावों तक हर चुनाव मे नये-नये नारे उछलते रहे थे, वायदे फिकते रहे थे। 'गरीबी हटाई' जाती रही थी, कुर्सियां महंगी होती रही थी, किन्तु श्रीमती गाधी और उनके साथी निरतर यह महसूस कर रहे थे कि अब जनता में व्याप्त असंतोष, भुखमरी और बेकारी को इस पुरानी ढपली के राग से नही गाया-बजाया जा सकता, जिससे अब तक बजाया जाता रहा है। तब क्या किया जाए?

तब एकमात्र चारा था, सुशासन की स्थापना करके भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, नौकरशाही, बढ़ते पूंजीवाद और सामाजिक विषमताओं से जनता को छुटकारा दिलाना। पर यह छुटकारा कौन दिलाएगा, किस तरह दिलाएगा ? जिन अवसरवादियों की भीड़ लेकर श्रीमती गांधी ने सत्तातंत्र हथिया लिया है, वे तो निहित स्वार्थोंवाले हैं। स्वयं श्रीमती गांधी जो कुछ करती आई हैं, वह केवल कुर्सी के मोह में हुआ है··· तब इस जन-असंतोष को कैसे थामा जाए ?

जन-असंतोष को थामने के लिए अब नारे बोदे सिद्ध होने लगे थे। भूखे, नंगे लोगों को रोटी की जगह नारे नहीं खिलाए जा सकते थे। लम्बी जवानी और अपनी उम्र के खूबसूरत दिनों को बेचकर जिस शिक्षा की युवकों ने प्राप्ति की थी, उन्हें आदर्श की बोदी बातों से नहीं समझाया जा सकता था। और इस सबके अतिरिक्त इन्दिरा-शासन के पास कोई भी कार्यक्रम नहीं था। जो कार्यक्रम था, वह सत्ता पाते ही पूरा हो चुका था। इसके बाद सवाल पैदा हुआ सत्ता पर जमे रहने का। पर कैसे जमे रहें ? ···यानी कार्यक्रम रहा कुर्सी पर जमे रहने का।

विरोधी दल तूती की आवाज़ से ही सही, किन्तु निरंतर जन-साधारण को जतला रहे थे कि यह सब इस कारण है, क्योंकि वे एक आदर्शहीन और नकली शासन में जी रहे हैं। उन्हें विश्वास था कि एक दिन उनकी कमज़ोर आवाज़ जनता तक पहुंचेगी ज़रूर ! ···और वह हुआ।

गुजरात की उसी धरती पर हुआ, जिसपर कभी गांधी की अहिंसा ने जन्म लिया था और शांतिपूर्ण तरीके से देश में स्वतंत्रता की लड़ाई सम्भाली थी। गुजरात आन्दोलन को सामान्यतः पत्रकारों और राजनीतिक समीक्षकों ने एक प्रांतीय और क्षेत्रीय आन्दोलन कह दिया है। बहुत-से राजाश्रयी लेखकों ने उसे महज़ विरोधी दलों द्वारा भड़काया गया एक हिंसात्मक, उग्र और असामाजिक तत्त्वों का आन्दोलन बतलाया है, किन्तु मुझे लगता है कि गुजरात का छात्र-आन्दोलन वस्तुतः आज़ादी की दूसरी लड़ाई का पहला शंखनाद था, जिसकी गूंज सबसे पहले पूरे देश में सुनी गई और जिसका प्रभाव बाद में बिहार से एक विशाल विस्फोट के रूप में हुआ।

एक पत्रकार ने लिखा है कि "गुजरात आन्दोलन दुनिया का सबसे बेतुका आन्दोलन था, जिसमें अवयस्क मताधिकार द्वारा मांग की गई थी कि विधान सभाओं को तोड़ दो।" मूल सत्य को बिसराकर एक कोई तर्क ढूंढ़ लेना—(और

तर्क भी ऐसा जो सचमुच तर्क हो) और फिर जवाब ही है। क्या अवयस्क मताधिकार द्वारा विघा चाहिए? पत्रकार महोदय क्या कहेंगे? इस बहस मे लन की विशिष्ट बातें बतलाना चाहूंगा। जब उक देश की सत्ता अगर वेदम सिद्ध हो चुकी थी तो देश लडखडाया हुआ था। भ्रष्टाचार, जमाखोरी, काल और गरीबी व आर्थिक असमानता चरम पर पहुंची हुई थी। ऐसी स्थिति में छात्रो ने अपने शासन-कर्ताओं से माग की कि यदि वे शासन सम्भाल नही सकते, तो उन्हे त्यागपत्र देना चाहिए। यही नही, जब कुर्सी-चिपकू कांग्रेस नेता नही माने तब बाध्य होकर छात्रों ने आन्दोलन प्रारंभ किया, सभाएं की, घेराव करके विधान सभा-सदस्यों से माग की कि वे कुर्सी छोड दें और नये लोग चुने जाए। विरोधी दल स्वय भी देश की हालत से त्रस्त हो चुके थे। इससे पहले कि जनता उनसे माग करती, उन्होने स्वयं ही विधान सभा से त्यागपत्र दे दिए। पर कांग्रेसी? ... लम्बी-लम्बी लागतें लगाकर हासिल की गई कुर्सियों को कैसे छोडा जाए? वे हाई कमान का मुंह देखने लगे। इस भाव से कि आप आदेश करें तो हम पदत्याग करें, क्योंकि हमे तो सबसे पहले आपने कांग्रेस टिकिट के लिए चुना था, जनता तो बाद की चीज है।

और हाई कमान चुप! ... जनता की माग, नई पीढ़ी की आवाज और प्रात में फैली भयानक भुखमरी के बावजूद चुप!

छात्र-आदोलन ज़ोर पकड़ता गया। निरीह लोग गोलियों से भून डाले गए। पढ़े-लिखे बेरोजगार जवानों को जेलों में ठूस दिया गया। परिणाम हुआ एक शान्तिपूर्ण आन्दोलन का 'क्राति' के रूप में बदल जाना। अब एक ओर कांग्रेसी शासन की राइफलें थी, दूसरी ओर निहत्थी जनता के निरीह चेहरे, पर ये चेहरे अनंत थे और राइफलें गिनती की। हिंसक मशीन और निहत्थे मनुष्य के इस युद्ध को देश के विरोधी नेता सह नही सके। उन्होने खुले दिल से जन-आन्दोलन का समर्थन किया। लोकनायक जयप्रकाश पहली बार स्पष्टत कांग्रेस शासन के विरोध मे आए और उन्होंने कहा कि अहिंसक आन्दोलनों के प्रति हिंसात्मक रुख लेना कांग्रेस की गाधीवादी परम्परा के अनुकूल नही है। जन-आन्दोलन को कुचलना जनतंत्रीय पद्धति के विपरीत है। जो जनता स्वच्छ प्रशासन की माग कर रही है उसके साथ जयप्रकाश हैं। परिणाम हुआ जन-आन्दोलन और ज़ोर पकड़ गया। इधर श्री मुरारजी

तब एक[illegible]भ कर दिया। इन्दिरा-शासन को घुटने टेकने पड़े। गुजरात में भतीजावा[illegible] को छ[illegible] जीत हुई। विधान सभा भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दि[illegible] गया।

गुजरात के आन्दोलन की सफलता ने सारे देश के सुलगते असन्तोष को सहसा विस्फोटक बना दिया। देश की नई पीढ़ी जाग गई और उसने एक बार फिर उसी इन्कलाब को अपनाया जो दुःशासन को दूर करने के लिए किसी भी लोकतांत्रिक देश में अपनाया जा सकता था।

गुजरात के छात्र-आन्दोलन को लेकर श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर अपनी पत्रिका 'नया जीवन' के 'इन्दिरा अंक' में लिखते हैं—"...दुर्भाग्यवश विरोधी दलों ने इसे अपनी जीत समझा और सोचा कि जो सत्ता हम चुनावों में जीतकर नहीं पा सके, वह विधान सभा को तोड़कर पा सकेंगे। **बिहार भी मंत्रिमंडलों की अदला-बदली से अव्यवस्थित हो रहा था।** बस, विरोधी दल बिहार की विधान सभा को तोड़ने पर पिल पड़े।"

क्या बेहतरीन और बारीक राजनीतिक दृष्टि है! एक ओर प्रभाकरजी लिखते हैं कि विरोधी दल बिहार की विधान सभा तोड़ने पर पिल पड़े और दूसरी ओर यह भी फरमा रहे हैं कि "**बिहार भी मंत्रिमंडलों की अदला-बदली से अस्तव्यस्त हो रहा था।**"

एकदम विरोधाभास! वही मसल हुई कि नाच न जाने आंगन टेढ़ा। जब बिहार अस्त-व्यस्त हो ही रहा था और वहां एक बेपेंदी की सरकार चल रही थी तो अगर उस हालत में कोई जन-आन्दोलन उठा या विरोधी दलों ने नई और स्थायी सरकार के लिए व्यवस्था की मांग रखी तो कौन-सा अपराध किया?

एक अव्यवस्थित सरकार और मंत्रिमंडलीय उलटफेर के दौरान किसी शासन-तंत्र की क्या दशा हो सकती है? यह समझाने या समझने के लिए माथापच्ची करने या किसी ज्ञानकेन्द्र में जाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। सहज ही यह समझा जा सकता है कि कोढ़ में अगर खाज ही लग जाए तो क्या होगा? भ्रष्टाचार, गरीबी और असमानता के अभिशाप में डूबे देश को जो भी नाममात्र की शासन-व्यवस्था मिली हुई हो, अगर वह भी ढिलमिल हो जाए, रोज़ मंत्री डूबें-उबरें तो प्रशासन और देश का क्या हाल हो सकता है? वही हो रहा था बिहार में...

बिहार के जन-आन्दोलन में वे बुनियादी मांगें उठाई गई, जो केवल

बिहार की ही नहीं, सारे देश की थीं। भ्रष्टाचार, बढ़ती कीमतें, बेरोज़गारी, निकम्मी शिक्षा-पद्धति · आदि। इन प्रश्नों को कौन नकार सकता था? ठीक है कि बहुत-से विरोधी दल इस आन्दोलन के साथ थे, हमेशा रहे, किन्तु उन सभी ने एकमत होकर इस अहिंसक आन्दोलन या क्रांति का नेतृत्व करने के लिए जय बाबू से निवेदन किया। यह सहज था। उन दिनों और उसके कुछ पूर्व जयप्रकाशजी के वक्तव्य आए थे, जिनमें उन्होंने देश की करुण दशा के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त की थी। उसी तरह, जिस तरह देश के बहुत-से तपस्वी नेता चिन्तित थे। आन्दोलन को एक ऐसा नेतृत्व चाहिए था, जो दलगत राजनीति से ऊपर उठा हुआ हो, जिसके विगत में महान क्रांतिकारी का प्रेरणापूर्ण इतिहास हो और जिसका तन-मन देश की आत्मा में रचा-बसा हो। और वह व्यक्तित्व जयप्रकाशजी के पास था। यदि सहज भाव से उनका नाम आने पर सभी दलों ने अपने छोटे-छोटे दायरों से हटकर एकमत होकर उनकी सत्ता और नेतृत्व स्वीकार किया तो इसपर कांग्रेसियों और कांग्रेस समर्थक लेखक-पत्रकारों के बौखला जाने की क्या बात थी?

सुरेश राम ने एक लेख में लिखा है—"युवा पीढ़ी ने जयप्रकाश से प्रार्थना की कि वह उनका नेतृत्व करें। उन्होंने नौजवानों से कहा कि आपको शान्ति और अहिंसा के रास्ते पर चलना होगा और नि:स्वार्थ भाव से देश की सेवा में लगना होगा। वे राज़ी थे। इसपर जयप्रकाश ने बागडोर अपने हाथ में ले ली।"*

सच थी उक्त स्थिति, किन्तु बौखलाए हुए कांग्रेसनिष्ठ (या इन्दिरा-निष्ठ?) लेखक कांग्रेस और इन्दिरा गांधी से कहीं ज्यादा बौखला उठे। क्या इसलिए कि इन्दिराजी की तरह वे भी इस महान आन्दोलन की चपेट में आकर उजागर होने लगे थे? मुझे एक शब्द याद आता है—लेंगबोट। बंगला शब्द है। एक विशालाकार नाव के साथ आठ-दस नावें जुड़ी रहती हैं और जब विशाल नाव डूबती है तो उससे जुड़ी हुई नावें भी डूब जाती हैं। जयप्रकाश के महान आन्दोलन के तूफान ने इन्दिरा शासन और उसके बहुत-से लेंगबोट मंत्रियों, अधिकारियों, लेखकों व पत्रकारों को उसी तरह थपेड़े देने शुरू कर दिए, परिणाम हुआ विशाल नाव के डूबने से पूर्व इन लेंगबोटों का उलट-पुलट हो

---

*पाक्षिक सरिता (अंक ५२७)

जाना। असन्तुलित होकर इन लेंगवोटों ने जो जल-नृत्य किया, उसका वर्णन कहीं और करूंगा।

और विशाल नाव ? वह भी कम उछालें नहीं ले रही थी। इस तरह क्रांति का आरंभ और दमन का सिलसिला शुरू हुआ, जिसकी कहानी खत्म हुई—१९७७ के आम चुनावों में। पर यह कहानी का प्रारंभ है।

बिहार आंदोलन में बौखलाहट किस कदर बढ़ी, इसका प्रमाण है श्री जयप्रकाश नारायण के बारे में बहुत-से समाचारपत्रों और पुस्तकों में वह लिखा जाना, जो उन्होंने कभी नहीं कहा। मुझे स्मरण है कि जयप्रकाशजी के आंदोलन को लेकर एक ओर भारी जन-चर्चा थी, दूसरी ओर सुलझे हुए बुद्धिजीवी निरंतर उनके आंदोलन का समर्थन कर रहे थे। विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं ने जन-चेतना के लिए आंदोलन की समग्र पृष्ठभूमि जतलाते हुए बार-बार जन-मानस को तैयार किया था कि वह 'समग्र क्रांति' के इस अहिंसात्मक आंदोलन का अंग बनें और देश को एक नई व्यवस्था देने के लिए आगे आएं। हिन्दी में 'धर्मयुग' के सम्पादक डॉ० धर्मवीर भारती ने बिहार आंदोलन की पृष्ठभूमि और उसके निरंतर बढ़ते रूप को लेखों और चित्रों के माध्यम से जनता तक पहुंचाया। और भी बहुत-से हिन्दी-अंग्रेज़ी दैनिक, साप्ताहिक पत्र थे जो इस काम में आगे आए थे। जिन मूल प्रश्नों को लेकर आंदोलन का श्रीगणेश हुआ था, उन्हें स्वीकारते हुए भी बहुत-से लोग वैयक्तिक रूप से श्रीमती गांधी के प्रति वफादारी निबाहने में लगे हुए थे। मुझे ऐसे बहुत-से लोगों की विरोधी बातें स्मरण हो आई हैं :

श्री ख्वाजा अहमद अब्बास ने अपनी पुस्तक* में लिखा है—"भारत में दरअस्ल अन्न की कमी नहीं है। इस मानव-निर्मित कमी की ज़िम्मेदारी नौकरशाही द्वारा अन्न के अकुशल वितरण पर है। वह अन्न निगम के गोदामों में हज़ारों टन गेहूं और चावल सड़ने देती है। और पास ही लोग भूख से मरते रहते हैं। लेकिन इस पागलपन में एक पद्धति दीख पड़ती है क्योंकि उनके इस गोलमाल से अनाज के जमाखोरों, व्यापारियों और मुनाफाखोरों को भारी लाभ पहुंचाता है।"

इसी पुस्तक में एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं—"जनता की कठिनाइयां इतनी बढ़ गई हैं कि उन्हें सहा नहीं जा सकता। सिर्फ दो साल

---

*इन्दिरा गांधी : सफलता के दस वर्ष (पृ०-१७९-१८०)

पहले उन्होंने जनता मे जो ऊंची आशाएं जगाई थी, उनके कारण निराशा और सन्ताप की अनुभूति और भी प्रखर वन उठी है।"

एक अन्य स्थान पर इन्ही लेखक महोदय ने 'भारतीय स्थिति के (किन्हीं ?) मित्रतापूर्ण आलोचक' की राय को व्यक्त करने की मजबूरी बतलाते हुए लिखा है—"एक ईमानदार आदमी के लिए भारत मे शाति के साथ रहना असंभव वन चुका है। बच्चों के दूध के डिब्बे की खरीद से लेकर कॉलिज मे प्रवेश लेने तक, हर वात मे कालावाजारी के तरीके इतने आम वन चुके है कि वे उसे बेईमान बनाकर ही छोड़ते हैं…"

श्री अब्बास ने चेतावनी दी थी कि यदि श्रीमती गाधी इन सारे हालात पर ध्यान नही देती और प्रशासन पर सुव्यवस्था का अकुश नही लगाती, तब 'वह उनके लिए खतरनाक होगा।'

एक ओर देश की विषम स्थितियों और प्रशासनिक असफलताओं को अब्बास स्वीकार रहे थे, दूसरी ओर व्यक्तिपूजा मे भी लगे हुए थे। यह सब लिख देने के बाद श्री अब्बास—जो उन्हीके अनुसार श्रीमती गाधी के शुभ-चिन्तक और मित्र हैं—उन्हे यह सुझाव भी देते है .

"अन्न को लेकर हुए दंगे, राशन की दुकानो की लूट, बढती हुई कीमतों के विरुद्ध उग्र प्रदर्शन, खतरनाक सामाजिक अशांति के चिह्न मात्र हैं। मजाक *की ही बात है कि प्रगतिशील नारों का इस्तेमाल करके प्रतिक्रियावादी और* अधानुगामी अपनी शक्तियो को पहले से ही एकत्र करते रहे हैं और आदोलन को बढाते रहे है।"

एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं—"यदि इन्दिरा गाधी अपने शुभ-चिन्तकों की चेतावनियो को नही सुनती तो शीघ्र ही उन्हे उनके और भारत के मोर्चाबन्द शत्रुओ की चोटो को झेलना पडेगा, क्योंकि एक पुरानी कहावत है कि मित्र सिर्फ चेतावनी देता है—शत्रु चोट करता है!"

क्या ही जायकेदार कलमबयानी है! देश के आर्थिक, सामाजिक, राज-नीतिक ढाचे की हर दरार स्वीकारते हुए उस दरार के प्रति इकलाव लाने वाले विरोधियो को अब्बास साहब बडी सुविधा से 'उनका' (इन्दिराजी का) और 'भारत का' शत्रु बतला रहे हैं। अशाति की सम्पूर्ण सत्ता स्वीकारते हुए उसे 'चिह्न मात्र' बतलाना भी क्या कम बडा मजाक है?

यही स्थिति है, बहुत-से 'शुभचिंतक पत्रकारों' की। यदि जयप्रकाशजी के आदोलन मे अहिंसात्मक रैलियां और प्रदर्शनो के द्वारा श्रीमती गांधी और

उनकी सरकार से स्वतंत्रता के बुनियादी अधिकारों और देश की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थितियों को सुधारकर सुशासन की मांग की जा रही थी तब समझ में नहीं आता कि इसमें भारत के प्रति कौन-सी शत्रुता थी ?

पर लेखन की 'जी-हुजूरी पद्धति' बड़े बेहूदा और कुतार्किक ढंग से श्रीमती गांधी का जय-जयकार करने में लगी रही, जबकि स्वतंत्रचेता बुद्धिजीवी, निरंतर 'समग्र क्रांति' से सहमति प्रकट करते रहे। चूंकि जयप्रकाशजी का आंदोलन सत्य की बुनियाद पर खड़ा था और छिछोरे राजनीतिक स्वार्थों से ऊंचा था अतः सहज भाव से जन-मानस में गहरे व्याप्त होता गया।

श्रीमती गांधी ने अपने अधिनायक स्वभाव के तहत आंदोलन के बारे में कहा—"गुजरात में जो कुछ हुआ, वह दूसरी बात थी। बिहार की विधान-सभा को किसी भी हालत में भंग नहीं किया जाएगा !"

संभवतः उस समय तक श्रीमती गांधी का खयाल था कि यह आंदोलन बिहार विधान सभा को गिराने के लिए ही है। यह भी अदूरदर्शितापूर्ण या ओछे राजनीतिक विचार की बात थी। आंदोलन जिस ज़मीन पर खड़ा था, वह ज़मीन केवल बिहार की नहीं थी। वह समान रूप से सारे देश की ज़मीन थी। देश की बुनियादी ज़रूरतों और सुधारों की ज़मीन थी। जबकि जयप्रकाशजी बार-बार यह कहते रहे थे कि यह मात्र किसी प्रदेश की सत्ता अथवा समस्या का आंदोलन नहीं है। ५ जून, १९७४ को पटना में जिस शाम विशाल जन-रैली हुई, उसमें जय बाबू ने स्पष्टतः घोषणा कर दी थी—"यह आंदोलन रुकेगा नहीं। यह समग्र क्रांति का आंदोलन है और इसका उद्देश्य केवल किसी विधान सभा का विघटन नहीं है, बल्कि यह तो एक महान रास्ते की पहली मंज़िल है।"

सही था। जिन प्रश्नों पर बिहार-आंदोलन प्रारंभ हुआ, वे मात्र बिहार के प्रश्न नहीं थे। वे समूचे देश के थे। वे बिहार-आंदोलन से पूर्व गुजरात की जन-क्रांति के भी रहे थे। क्या यह छोटी-सी बात नहीं समझी जा सकती थी कि भूख सिर्फ बिहार की नहीं है, सारे देश की है। बेरोज़गार, लाचार लोगों की छटपटाहट किसी प्रदेश के दायरे में नहीं बंधी है, सारे देश की आग बन रही है। प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार और मुनाफाखोरी देश के एक टुकड़े-भर में नहीं है, समूचे देश में है। तब श्रीमती गांधी जैसे राजनीतिज्ञ उसे मात्र बिहार आंदोलन कहें—समग्र मांगों की रूपरेखा में—हास्यास्पद है।

गुजरात की विधान सभा भंग हुई थी। जन-क्रांति सफल रही। मुद्दे वही

थे, जो बाद में बिहार में विस्फोट के कारण बने, फिर सारे देश में। तब श्रीमती गांधी का यह कहना कि 'गुजरात में जो कुछ हुआ, वह दूसरी बात थी' समझ में नहीं आता। उसके बाद अगली घोषणा—"बिहार की विधान सभा को किसी भी हालत में भंग नहीं किया जाएगा।" राजहठ नहीं, तब क्या था? निस्सन्देह यह हठपूर्ण घोषणा श्रीमती गांधी के अधिनायकवादी स्वभाव का ही अंग थी।

५ जून, १९७४ के जिस जुलूस या रैली का जिक्र मैंने ऊपर किया है उसमें 'इन्दिरा ब्रिगेड' ने गोली चलाई थी।[1]

किन्तु श्री प्रभाकर अपनी पत्रिका में इस तरह के सत्यों को दरकिनार करते हुए कहते हैं—"...साफ-साफ अपनी बात कहूं कि वे (आंदोलनकारी) समझ गए कि हुल्लड़शाही आंदोलन से वे इन्दिराजी को नहीं हटा सकते, इसके लिए हिंसात्मक रूप लेना चाहिए।"

इस आंदोलन में जनसंघ भी शरीक था और हर दल की तरह उसके कार्यकर्त्ता भी समर्पण-भाव से जयबाबू की अनुशासनबद्ध शांतिपूर्ण क्रांति में भाग ले रहे थे, किन्तु बदनाम करने वाली भाषा का उपयोग करते हुए श्रीमती गांधी ने एक जन-सभा में कहा—"ये संघी चीखते-चिल्लाते हैं, जलाते हैं और अल्पमत जनता को मारते हैं!"

जबकि स्थिति का सच इस तरह था—

१ पटना में ८ अप्रैल को आंदोलनकारियों ने एक मौन जुलूस निकाला था। इस जुलूस में केवल मांगों के बैनर लेकर लोग निकले। इसी तरह के प्रदर्शन अन्य स्थानों पर भी आयोजित हुए और फिर वे सिलसिले से होने लगे। इस आंदोलन का न दल था, न नाम। यह केवल जन-आंदोलन था और इसमें सभी विरोधी दलों के लोग तथा बड़ी मात्रा में जनता मौजूद थी। स्वयं प्रभाकरजी ने स्वीकार किया है कि जयप्रकाशजी ने नेतृत्व सम्भालते हुए आरंभ बहुत उत्तम ढंग से किया। उन्होंने अहिंसा को आंदोलन की अनिवार्य शर्त बताते हुए उसे क्षेत्रों में बांटा था। स्पष्टतः उन्होंने एक जनसभा में घोषित कर दिया था—"समग्र क्रांति का यह आंदोलन दल-विहीन राजनीति

---

1. ५ जून, १९७४ को जब पटना में एक जुलूस निकल रहा था तो इन्दिरा ब्रिगेड की तरफ से उसपर गोली चलाई गई।—सुरेश राम, [illegible]

का प्रतीक होगा।" श्री प्रभाकर लिखते हैं—"आंदोलन को रैलियों के रूप में चौराहे पर ला पटका !"

भाषा और शब्द कितने ही व्यंग्यात्मक क्यों न हों, यह तो स्पष्ट है ही कि जयबाबू का आंदोलन पूर्णतः अहिंसात्मक था, जबकि सब कुछ मानते-जानते हुए इस आंदोलन का प्रचार शासकीय और राजकृपा के समर्पणवादी पत्रकारीय स्तर पर हिंसात्मक कहकर किया जा रहा था। जितना झूठ और बेबुनियादी प्रचार गत पांच बरसों में भारत में हुआ, उतना संसार के किसी भी देश में, इतने अल्पकाल में नहीं हुआ।

मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका दुर्गा भागवत कहती हैं—"मगर सबसे बड़ा अफसोस यह है कि कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो हिन्दी के अधिकांश लेखक सरकार के चापलूस हो गए। जबकि हिन्दी प्रदेश की जनता ने खुलकर इस महान संघर्ष में सबसे बड़ा योगदान दिया। जब जनता इस संघर्ष में जुटी थी, तब हिन्दी लेखक सरकारी प्रचार का अंग बनकर उसकी टांग खींच रहा था। यह सुनी-सुनाई नहीं, आंखों देखी बात है। कुछ वरिष्ठ लेखकों और संपादकों ने सरकारी दमन का पक्ष लिया। उसका प्रचार किया और जनता के साथ धोखा किया।"[1]

सरकार और सरकारी लेखक प्रचार कर रहे थे कि जयप्रकाशजी का आंदोलन हुल्लड़बाजी से पूर्ण हिंसात्मक आंदोलन है, जबकि उस दौरान जो घट रहा था, वह एकदम विपरीत था।

गया में शांत प्रदर्शनकारियों की भीड़ पर पुलिस ने भयानक गोलीबारी की। इस गोलीबारी के परिणामस्वरूप दस लोगों ने जान से हाथ धोए और सैकड़ों हताहत हुए। पर पिट्ठू लेखक कह रहे थे कि प्रदर्शनकारियों ने हिंसात्मक रूप ले लिया था। गया में जो लोग मरे, उनमें एक भी पुलिसमैन नहीं था। मृतक सीधे-सादे नागरिक थे—कुछ किसान और कुछ मजदूर। किन्तु झूठे प्रचार-तंत्र की शक्ति के सामने घटनास्थलों से हजारों-लाखों मील दूर बैठे उस भोले देशवासी को कौन बतला सकेगा कि गोलियां प्रदर्शनकारियों के पास नहीं होतीं, होती हैं सत्ता के पास। और वे दसों आदमी गोलियों से मरे थे।

किन्तु इस दमन ने चेतना को ज्यादा तीव्र किया। पटना में ही एक और

---

१. श्रीमती दुर्गा भागवत के विचार, १० अप्रैल, १९७७—धर्मयुग

बड़ा जुलूस निकला। इसमें हज़ारों बंडल थे और इन बंडलो मे गांव-गाव से जनता के दस्तखत जुटाए गए थे कि शासन-व्यवस्था मे परिवर्तन आवश्यक है। कहते है, यह जुलूस छह मील लम्बा और पूर्णतः अनुशासनबद्ध था। जयबाबू स्वयं नेतृत्व कर रहे थे।

पर जैसाकि श्रीमती दुर्गा भागवत ने कहा है, हिन्दी के लेखक जन-आंदोलन से गद्दारी कर रहे थे। कुछ लोग राज्यसभा मे पहुंचने का चक्कर चला रहे थे और कुछ लोग अपने अखबारों या ऐसे ही किसी छोटे-मोटे कारोबार के निहित स्वार्थ मे लिप्त होकर ऊलजलूल बातें कह और लिख रहे थे। आंदोलन के मूल मुद्दों को जन-साधारण तक न पहुचाकर वे व्यक्तिगत रूप में श्री जयप्रकाश नारायण पर कीचड उछालने मे लगे हुए थे। कुछ लोग टूट पड़े थे जनसंघ पर, और बिलकुल उसी भाषा मे, जिस भाषा मे, काग्रेसी प्रचार-तंत्र या व्यक्तिगत रूप से श्रीमती गाधी बोलती रही थी, आरोप लगाने लगे थे। आदोलन के सत्य-रूप को तोड-मरोड़कर जनता के सामने पेश कर रहे थे। विशेष रूप से कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्ट लेखक इस षडयंत्र मे शरीक रहे। *उस सारे दौर मे उनके विचार, प्रचार तथा लेखन-सभाषण का* हर अंश देश और जनता के साथ विश्वासघात की एक तकलीफदेह स्मृति है।

बुद्धिजीवियो का एक पूरा दल ही सगठित रूप मे एकत्र होकर वह भाषा और आरोप बोलने लगा, जो उसके अपने दिमाग या बुद्धि के नही थे, बल्कि काग्रेसी नेताओ की बुद्धि की राजनीतिक उगलन थे। व्यक्तिगत रूप में जयप्रकाशजी, मुरारजी भाई, कृपलानीजी, अटलबिहारी वाजपेयी आदि पर जो कीचड उछाला गया, वह उसी भाषा और शब्दो मे था, जिस भाषा और शब्दो के साथ काग्रेसी सत्ताधारी बोलते रहे थे। ऐसे कुछ उदाहरण है :

संसद सदस्य कृष्णकात को २५ जुलाई, १६७५ को काग्रेस की महासचिव श्रीमती चन्द्रशेखर ने एक पत्र लिखा था और अखिल भारतीय काग्रेस कार्य समिति के उस प्रस्ताव की याद दिलाई थी, जिसमे काग्रेस जनो को हिदायत दी गई थी कि श्री जयप्रकाश नारायण का समग्र क्राति दर्शन और आंदोलन फासिस्टो का मसूबा है और सारे देश मे इसका विरोध किया जाना चाहिए।

इसी स्वर मे हजार कदम आगे बोलते हुए श्री प्रभाकर ने लिखा—"जो लोग सारे देश मे हुल्लड मचाकर और कुछ नेताओ की हत्या करके प्रजातंत्री हुकूमत की जगह फासिस्ट डिक्टेटरी कायम करने की सब तैयारियां पूरी कर

का प्रतीक होगा।" श्री प्रभाकर लिखते हैं—"आंदोलन को रैलियों के रूप में चौराहे पर ला पटका !"

भापा और शब्द कितने ही व्यंग्यात्मक क्यों न हों, यह तो स्पष्ट है ही कि जयबाबू का आंदोलन पूर्णतः अहिंसात्मक था, जबकि सब कुछ मानते-जानते हुए इस आंदोलन का प्रचार शासकीय और राजकृपा के समर्पणवादी पत्रकारीय स्तर पर हिंसात्मक कहकर किया जा रहा था। जितना झूठ और बेबुनियादी प्रचार गत पांच बरसों में भारत में हुआ, उतना संसार के किसी भी देश में, इतने अल्पकाल में नहीं हुआ।

मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका दुर्गा भागवत कहती हैं—"मगर सबसे बड़ा अफसोस यह है कि कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो हिन्दी के अधिकांश लेखक सरकार के चापलूस हो गए। जबकि हिन्दी प्रदेश की जनता ने खुलकर इस महान संघर्ष में सबसे बड़ा योगदान दिया। जब जनता इस संघर्ष में जुटी थी, तब हिन्दी लेखक सरकारी प्रचार का अंग बनकर उसकी टांग खींच रहा था। यह सुनी-सुनाई नहीं, आंखों देखी बात है। कुछ वरिष्ठ लेखकों और संपादकों ने सरकारी दमन का पक्ष लिया। उसका प्रचार किया और जनता के साथ धोखा किया।"[1]

सरकार और सरकारी लेखक प्रचार कर रहे थे कि जयप्रकाशजी का आंदोलन हुल्लड़बाजी से पूर्ण हिंसात्मक आंदोलन है, जबकि उस दौरान जो घट रहा था, वह एकदम विपरीत था।

गया में शांत प्रदर्शनकारियों की भीड़ पर पुलिस ने भयानक गोलीबारी की। इस गोलीबारी के परिणामस्वरूप दस लोगों ने जान से हाथ धोए और सैकड़ों हताहत हुए। पर पिट्ठू लेखक कह रहे थे कि प्रदर्शनकारियों ने हिंसात्मक रूप ले लिया था। गया में जो लोग मरे, उनमें एक भी पुलिसमैन नहीं था। मृतक सीधे-सादे नागरिक थे—कुछ किसान और कुछ मजदूर। किन्तु झूठे प्रचार-तंत्र की शक्ति के सामने घटनास्थलों से हज़ारों-लाखों मील दूर बैठे उस भोले देशवासी को कौन बतला सकेगा कि गोलियां प्रदर्शनकारियों के पास नहीं होतीं, होती हैं सत्ता के पास। और वे दसों आदमी गोलियों से मरे थे।

किन्तु इस दमन ने चेतना को ज्यादा तीव्र किया। पटना में ही एक और

---

१. श्रीमती दुर्गा भागवत के विचार, १० अप्रैल, १९७७—धर्मयुग

बड़ा जुलूस निकला। इसमे हज़ारो बंडल थे और इन बडलों में गांव-गाव से जनता के दस्तखत जुटाए गए थे कि शासन-व्यवस्था मे परिवर्तन आवश्यक है। कहते हैं, यह जुलूस छह मील लम्बा और पूर्णतः अनुशासनबद्ध था। जयबाबू स्वयं नेतृत्व कर रहे थे।

पर जैसाकि श्रीमती दुर्गा भागवत ने कहा है, हिन्दी के लेखक जन-आदोलन से गद्दारी कर रहे थे। कुछ लोग राज्यसभा मे पहुंचने का चक्कर चला रहे थे और कुछ लोग अपने अखबारों या ऐसे ही किसी छोटे-मोटे कारोबार के निहित स्वार्थ मे लिप्त होकर ऊलजलूल बातें कह और लिख रहे थे। आंदोलन के मूल मुद्दों को जन-साधारण तक न पहुचाकर वे व्यक्तिगत रूप में श्री जयप्रकाश नारायण पर कीचड़ उछालने मे लगे हुए थे। कुछ लोग टूट पडे थे जनसघ पर, और बिलकुल उसी भाषा में, जिस भाषा मे, कांग्रेसी प्रचार-तन्त्र या व्यक्तिगत रूप से श्रीमती गाधी बोलती रही थी, आरोप लगाने लगे थे। आदोलन के सत्य-रूप को तोड-मरोड़कर जनता के सामने पेश कर रहे थे। विशेष रूप से कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्ट लेखक इस षडयन्त्र में शरीक रहे। उस सारे दौर मे उनके विचार, प्रचार तथा लेखन-सभाषण का हर अंश देश और जनता के साथ विश्वासघात की एक तकलीफदेह स्मृति है।

बुद्धिजीवियो का एक पूरा दल ही सगठित रूप मे एकत्र होकर वह भाषा और आरोप बोलने लगा, जो उसके अपने दिमाग या बुद्धि के नही थे, बल्कि कांग्रेसी नेताओ की बुद्धि की राजनीतिक उगलन थे। व्यक्तिगत रूप मे जयप्रकाशजी, मुरारजी भाई, कृपलानीजी, अटलबिहारी वाजपेयी आदि पर जो कीचड़ उछाला गया, वह उसी भाषा और शब्दो मे था, जिस भाषा और शब्दों के साथ कांग्रेसी सत्ताधारी बोलते रहे थे। ऐसे कुछ उदाहरण हैं .

संसद सदस्य कृष्णकांत को २५ जुलाई, १९७५ को कांग्रेस की महासचिव श्रीमती चन्द्रशेखर ने एक पत्र लिखा था और अखिल भारतीय कांग्रेस कार्य समिति के उस प्रस्ताव की याद दिलाई थी, जिसमे कांग्रेस जनो को हिदायत दी गई थी कि श्री जयप्रकाश नारायण का समग्र क्रांति दर्शन और आंदोलन फासिस्टो का मसूबा है और सारे देश मे इसका विरोध किया जाना चाहिए।

इसी स्वर मे हज़ार कदम आगे बोलते हुए श्री प्रभाकर ने लिखा—"जो लोग सारे देश मे हुल्लड मचाकर और कुछ नेताओ की हत्या करके प्रजातंत्री हुकूमत की जगह फासिस्ट डिक्टेटरी कायम करने की सब तैयारिय ी कर

चुके थे इमर्जेंसी ने पहले ही कदम पर उनकी आज़ादी छीन ली है।"

कांग्रेसी नेताओं ने सी० आई० ए० का खासा हौआ उन दिनों खड़ा कर रखा था। यह हौआ एक राजनीतिक चक्र के रूप में उपयोग किया जाना था और इस हौवे को उन्होंने धीमे-धीमे जयप्रकाशजी के आंदोलन से जोड़ना शुरू कर दिया। इस हौवे को श्री प्रभाकर ने स्पष्टत: सी० आई० ए० नाम न देकर शिष्ट ढंग से उपयोग कर लिया। लिखते हैं—"आंदोलन के भीतर घुसे विदेशी एजेण्ट अपने हिंसा-जाल को गरम करते जा रहे थे।"

एक ओर यह स्थिति थी, दूसरी ओर उन पत्र-पत्रिकाओं की कमी नहीं थी जो श्रीमती गांधी का एक वक्तव्य आते ही बिलकुल उसी भाव से सम्पादकीय टिप्पणियां लिखकर आंदोलन का उसी तरह विवेचन करने लगते थे। इस ज़बरदस्त हवा का परिणाम यह हुआ था कि बहुत-से सुलझे हुए लोगों को, जो आंदोलन के समर्थन में बोलते थे और देश में एक रचनात्मक परिवर्तन तथा सामाजिक-राजनीतिक क्रांति की बात करते थे, निरंतर गलत समझा और बतलाया जाने लगा। कई बार यह समझाते हुए अजीब-अजीब तर्क ऐसे लोगों से सुनने को मिला करते। मुझे याद है, एक दिन मैं सुप्रसिद्ध फिल्म निर्देशक श्री बासु भट्टाचार्य के यहां बैठा हुआ था। यहां-वहां की बातें चल रही थीं कि बिहार-आंदोलन की चर्चा निकल आई। बासु इस बात को मानने को तैयार नहीं थे कि यह जन-आंदोलन है और उसके मूल में सामाजिक-आर्थिक विषमताओं के सुलझाव का प्रश्न है, बल्कि उनका विचार था यह महज राजनीतिक आंदोलन है और इस आंदोलन का मतलब सत्ता से श्रीमती गांधी या कि कांग्रेस को ही उखाड़ फेंकना है। जब बहस हो गई और काफी लम्बी चल चुकी तब अचानक बासु ने अपने सामने पड़ा हुआ 'धर्मयुग' का अंक उठाकर मेरी ओर उछाल दिया, बोले, "देखो इसे और बतलाओ कि इन चेहरों पर कोई क्रांति का भाव नज़र आता है?"

मैं हैरान हुआ, "क्या मतलब?"

"मतलब यह कि ये जो आंदोलनकारियों के रंगीन और ब्लैक एण्ड ह्वाइट चित्र छपे हैं, इनमें देखो…गौर से चेहरे देखो और फिर बतलाओ कि इनमें से एक भी क्रांतिकारी नजर आता है?"

"तब यह क्या है? क्या फोटो नकली हैं? डॉ० भारती ने अपने ड्राइंग-रूम में माडल इकट्ठा करके खिंचवा लिए हैं?" मैंने व्यंग्य से कहा।

बासु सख्त नाराज़ हो बोले, "तुम बेकार बहस मत करो, इन लोगों को

देखो। ये सब निश्चिन्त, हंसते हुए नज़र आ रहे हैं—इनके चेहरों पर क्रांति कहां है ?" सहसा वह सहज हुए। कहा, "यह सब राजनीतिक छल-प्रपंच है। जन-क्रांति-क्रांति कुछ नहीं !"

विचित्र तर्क था और इस तर्क के उत्तर में अपने-आपको विचित्र बनाना मुझे स्वीकार न था। हंसकर चुप हो गया।

तो, यह एक मिसाल है। क्रोध, आवेश और प्रचार की शक्ति के कारण बेहद सुलझे हुए बुद्धिजीवी भी भटक रहे थे। वे चित्रों में क्रांति ढूढ रहे थे और भावों से यह समझना चाहते थे कि महंगाई, भुखमरी, बेकारी और भ्रष्टाचार है भी या नहीं। *इस विचार-प्रचार की आंधी में भी यह नहीं सोचा* जा रहा था कि आंदोलन वे करते है, जिनमे विरोध की शक्ति और माद्दा होता है।

बहरहाल वे फोटो-मुख—जिनके चेहरे पर बासु भट्टाचार्य को क्राति नहीं दिख रही थी—क्राति कर रहे थे और कांग्रेसी सत्तावाद की लाठियां और गोलिया भी सह रहे थे। वे सीधे-सादे आदमी थे, ऐक्टर नही थे, इसलिए *ऐक्टिंग न करके केवल क्रांति ही कर पा रहे थे।*

इस जन-आन्दोलन के प्रति घोर मानवतावादी संत विनोबा भावे का रुख अजीब था। लोग उस समय बड़े हैरान हुए थे, जब आचार्य विनोबा भावे ने गलत के प्रति विरोध को केवल 'ऊधम' शब्द से सम्बोधित कर डाला। यही नहीं, उन्होंने सर्वसेवा सघ से प्रकाशित एक पुस्तिका मे जयप्रकाशजी के आन्दोलन को एक तरह से बेतुका बतलाते हुए कहा कि शिक्षा पद्धति के दोष, महंगाई, मूल्यवृद्धि और इसी तरह के दोष आन्दोलन से कैसे मिटेंगे ?

यह तर्क भी अपने-आपमे विचित्र था। क्या आन्दोलन से दोष मिटते है ? दोष मिटाने की शक्ति जिनके पास थी, उन्हें यह आन्दोलन चेतावनी दे रहा था कि तुम इसे मिटाओ। यदि नही मिटा सकते तब कुर्सियां छोड दो। विनोबाजी अपने विचार व्यक्त करते हुए कांग्रेस के भ्रष्ट शासन के प्रति अजीब-*से सम्मोहित दीख रहे थे। यही कारण था कि जब विनोबाजी को पटना* (जून १९७४) मे निकले जय बाबू के जुलूस पर इन्दिरा ब्रिग्रेड द्वारा गोली चलाए जाने की घटना की सूचना दी गई और पूछा गया कि उनकी क्या राय है, तब उन्होंने कहा—"पटना में जो कुछ भला-बुरा हुआ, वह सब भगवान को समर्पण।"

क्या मतलब हुआ ? यह सवाद किसी और तरह ही सही, पर अनायास

महाभारत के उस कांड की याद दिला देता है जब युधिष्ठिर जैसे सत्यव्रती भी कतराकर कह बैठे थे—'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा'।

गांधीजी के बाद सारे देश ने धर्म, सत्य और न्याय के लिए सदा विनोबाजी की ओर देखा है और वही विनोबाजी सत्य और असत्य के बीच से शब्द बचाकर निकल गए! यही नहीं, उन्होंने आन्दोलन के प्रति टुकड़ों-टुकड़ों में विचित्र तर्क-विचार प्रस्तुत किए।

निस्सन्देह जयप्रकाशजी को विनोबाजी के इन विचारों और अनबूझ बदलाव पर दुख हुआ होगा, किन्तु क्रांतिधर्मी यों नहीं थका करते। सुरेश राम ने विनोबाजी के इस बदलाव के लिए स्पष्टतः लिखा है—"...विनोबाजी कांग्रेस सरकार से टक्कर लेना नहीं चाहते थे!"

कुल मिलाकर यह कि विनोबाजी जन-आन्दोलन के कभी समर्थक नहीं रहे, उल्टे (आगे कहीं लिखा जाएगा) उन्होंने अनेक बार इमर्जेन्सी के दौरान इन्दिराजी की तानाशाही को बड़े शालीन ढंग से और चुने हुए शब्द देकर समर्थित ही कर दिया। आन्दोलन के प्रति विनोबाजी के असमर्थन की बात करते हुए स्वयं जयप्रकाशजी ने अपनी जेल-डायरी में लिखा है—"मैंने अपने विचार सर्वसेवा संघ के माध्यम से कुछ चुने हुए लोगों और विनोबाजी के सामने रखे, लेकिन न तो विनोबाजी मेरे विचारों से सहमत हुए, न मैं उनके विचारों से।"[1]

यह कोई नई बात नहीं थी। क्रांति और संघर्ष में महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के समर्थन, असमर्थन की स्थितियां सदा ही आती रही हैं, पर किसी भी क्रांति के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण होता है जन-समर्थन, जो जय बाबू के साथ था और वही उनकी शक्ति थी। इस शक्ति से ही वे भ्रष्ट शासन-तंत्र को चेतावनी दे रहे थे, संघर्ष कर रहे थे।

आन्दोलन निरंतर तेज होता जा रहा था और उसकी तेजी के साथ-साथ कांग्रेस सरकार की लड़खड़ाहट-बौखलाहट बढ़ती जा रही थी। बिहार सरकार को ऐसे केन्द्रीय संकेत मिले थे कि आन्दोलन को सम्पूर्ण शक्ति से दबा दिया जाए, जबकि सरकारी तौर पर बार-बार प्रचार किया जा रहा था कि

---

1. "I put forward my own arguments, which will be found in the account of our conversation circulated by the Sarva Seva Sangh among a few selected persons. However Vinobaji was not persuaded, nor was I."

Prison Diary-1975 by Jaiprakash Narain, Page 17

जयप्रकाशजी का आन्दोलन प्रतिक्रियावादी शक्तियों का षड्यंत्र है। किन्तु आन्दोलन किसी व्यक्ति या दलीय राजनीति के छोटे स्वार्थों पर नहीं टिका था, जिसे प्रचार के बल पर कुचल दिया जाता या दमन से दबा दिया जाता। जयप्रकाशजी का आन्दोलन जन-आन्दोलन था। जैसे-जैसे शासकीय कुप्रचार में तेज़ी आती गई, वैसे-वैसे वह जंगल की आग की तरह बढ़ता-फैलता चला गया। असन्तुलित होकर कांग्रेस पक्ष के एक समझदार (?) नेता ने कहा—"जयप्रकाश पागल हो गए हैं। वे देश में आग लगा रहे हैं!"

और जय बाबू का उत्तर था—"आग तो लगी हुई है, किन्तु नज़र नहीं आ रही है। तुम्हारी कुर्सियों के नीचे आग सुलग रही है…"

पर यह आग सुलगाई किसने थी? जयप्रकाशजी के आन्दोलन ने? नहीं!… बल्कि कांग्रेस में व्याप्त भ्रष्टाचार, भाई-भतीजेवाद और सत्ता के दुरुपयोग से जनता को त्रस्त करते रहने के कई बरसों ने। जयप्रकाश का आन्दोलन मात्र न्याय की एक पुकार था, जिसका उद्देश्य किसी व्यक्ति-विशेष की सत्ता उलटने या किसी संस्था को नुकसान पहुंचाने का नहीं था, बल्कि उसके शुद्धीकरण का था। सत्य की प्राप्ति का था। घुटते-पिसते भारतवासी को गांधी जैसे एक जन-नेता की आवश्यकता थी और उसने जयप्रकाशजी को ढूंढ़ लिया था।

कुल मिलाकर यह कि बेहूदा प्रचार के बावजूद असत्य अपने-आपको जीवित नहीं रख पा रहा था। आन्दोलन गांव-गांव में फैल गया था, उसने बिहार की सीमाएं पार करके धीमे-धीमे उत्तरप्रदेश को भी अपनी लपेट में लेना शुरू कर दिया था।

४ नवम्बर को पटना में आन्दोलनकारियों पर कांग्रेसी शासन की पुलिस ने ज़बरदस्त लाठी-प्रहार किया। अश्रुगैस छोड़ी गई और भारी संख्या में आन्दोलनकारी हताहत हुए। पटना की सड़कों और गलियों में निहत्थे आन्दोलन-कारियों के घायल, कराहते हुए शरीर पड़े रहे, किन्तु आन्दोलन थमा नहीं। जयप्रकाशजी पर भी लाठीप्रहार हुआ। उनके साथ थे नानाजी देशमुख। जब जयप्रकाशजी लाठी-प्रहार से चोट खाकर गिर पड़े तो नानाजी उनके गिरे हुए शरीर पर ओट की तरह लेट गए और कई लाठियां सहीं। एक प्रत्यक्षदर्शी ने मुझे बतलाया था कि यदि उस पल नानाजी वहां न होते तो शायद हम एक और गांधी को खो बैठते।

मुझे उसी क्षण लाला लाजपतरायजी का स्मरण हो आया था, जिन्होंने क्रूर ब्रिटिश शासन की लाठियों के प्रहार सहे थे और बाद में कहा था कि उनके

शरीर पर जितनी चोटें आई हैं, उतनी चोटें ब्रिटिश शासन ने अपने-आपको पहुंचाई हैं ...[1]

जयप्रकाशजी पर हुआ लाठी-प्रहार कांग्रेसी शासन का स्वयं पर लाठी-प्रहार था। इस घटना की पूरे देश के लोकतंत्री जन-मानस में ज़बरदस्त प्रतिक्रिया हुई। विद्वानों और कर्मनिष्ठ पत्रकार-लेखकों ने समझ लिया कि अब इन्दिरा-शासन की समाप्ति के दिन आ पहुंचे हैं। इस अमानवीय अत्याचार पर कई प्रमुख पत्रों ने टिप्पणियां लिखकर शासन की इस अदूरदर्शितापूर्ण और दमनकारी प्रवृत्ति की निंदा की। जयप्रकाशजी ने दुख के साथ कहा—"अंग्रेजी राज में भी ऐसी क्रूरता नहीं देखी गई। अपने लम्बे, पचास वर्षीय राजनीतिक जीवन में मैंने ऐसी वर्बरता कभी नहीं देखी।"

लोकतंत्र की आड़ में बैठे राजतंत्र से अब जन-मानस की घृणा चरम पर पहुंच चुकी थी। किन्तु विनाश काले विपरीत बुद्धिः। शासन की दमनकारी और अप्रजातांत्रिक कार्यवाहियों में तनिक अन्तर नहीं आया। काश!... इन्दिराजी उस क्षण समझकर सावधान हुई होतीं कि यह दमन और गोलीबारी एक दिन एक महान संस्था और उनके अपने अधिनायकवाद का अंत कर देगी। जयप्रकाशजी पर हुआ लाठी-प्रहार उसी दिन सौ साल पुरानी कांग्रेस के संस्थागत ढांचे को जगह-जगह से तोड़ चुका था।

जयप्रकाशजी ने अगले दिन, यानी ५ नवम्बर को पटना-बन्द और फिर ६ नवम्बर को बिहार-बन्द का आह्वान किया। लोकनायक का आदेश जनता ने सिर झुकाकर मान्य किया। उन दिनों के जन-रोष और बन्द की सफलता की कल्पना इससे की जा सकती है कि पटना में एक व्यापारी को अपने ट्रक से माल उतारने के लिए मज़दूर तक नहीं मिले थे। बिहार आन्दोलन के दौरान कुछेक बुद्धिजीवी अत्यंत सक्रिय रूप में सामने आए। उपन्यासकार श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने अपनी अस्वस्थता की परवाह न कर विभिन्न जुलूसों में भाग लिया और प्रदर्शनों में लाठियां सहीं। उन्हें गिरफ्तार भी किया गया। सरकार की दमन-नीति के विरोध में उन्होंने राजअलंकरण त्यागा और जेल में यातनाएं सहीं।

---

१. ब्रिटिश राज में जब साइमन कमीशन का आगमन हुआ तब लाला लाजपतराय शान्तिपूर्ण ढंग से उसके बायकाट में प्रदर्शन कर रहे थे और वहीं उनपर लाठी प्रहार हुआ था।
भारत के क्रान्तिकारी, मन्मथनाथ गुप्त (पृ० १३)

नागार्जुन ने चौराहे-चौराहे क्रांतिकारी कविताएं सुनाईं और अलख जगाया। आन्दोलन तीव्र से तीव्रतर होता गया।

पर इन्दिरा-शासन और उसके ढोलची निरंतर आन्दोलन को बदनाम करने के लिए अजीबोगरीब प्रचार में जुटे हुए थे। इस प्रचार का घृणित रूप उस समय सामने आया, जब रेल मंत्री श्री ललितनारायण मिश्र की बिहार में हत्या हो गई। श्री मिश्र की हत्या एक सुनियोजित षड्यंत्र का परिणाम थी, किन्तु राजनीतिक स्तर पर इस हत्या और जयप्रकाशजी के आन्दोलन को जोड़ने का कुप्रचार आरंभ हो गया। कहां से, किस तरह, किसने इसे प्रारंभ किया, तय नहीं है पर मुझे अच्छी तरह याद है कि छोटे से छोटा कांग्रेस कार्यकर्ता बेहूदा ढंग से मिश्रजी के हत्याकांड को आन्दोलन से जोड़ता फिरता था। ऐसे कई लोगों के मुंह से मैंने कुतर्कों के साथ इस घटना को सुना है। सत्य की खोज पुलिस करे और न्याय न्यायालय दे, इसके पहले ही इस प्रचार में घटना को इस तरह उभारा जाने लगा, जैसे जो-जो साहेबान उसका बयान कर रहे हैं, वे आन्दोलन और हत्याकांड, दोनों, से बेहद करीबी हैं। यही नहीं, प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी जैसी जिम्मेदार पद पर बैठी महिला कह बैठीं—"सब जानते हैं कि जयप्रकाशजी का असली निशाना कौन है? ललित बाबू की हत्या एक बड़े निशाने का पूर्वाभ्यास है!"

मगर खोखले प्रचार से न तो व्यक्ति जीते हैं, न संस्थाएं खड़ी रहती हैं। असत्य बहुत दिनों सत्य को छिपाए नहीं रख सकता। अन्धेरे में सूरज को निगलने की ताकत नहीं होती। मिश्रजी की हत्या और आन्दोलन को जोड़ने का छिछोरा प्रचार भी जल्दी ही उजागर हो गया।

श्रीमती गांधी की इस तरह की बातों के गैरजिम्मेदाराना ढंग पर स्वयं जयप्रकाशजी ने लिखा है—"मैं समझ चुका हूं कि इस तरह की व्यर्थ बातों पर न तो भारत का कोई व्यक्ति विश्वास कर सकता है और न ही कोई लोकतांत्रिक देश उन्हें मान सकता है।"[1]

एक ओर जयप्रकाशजी थोथी बातों की परवाह नहीं कर रहे थे, दूसरी ओर 'नया जीवन' के सम्पादकजी टिप्पणी लिखकर जय बाबू के बारे में उल्टा

---

1. "I am conviniced that niether the people of India nor of the western democracies will ever be persueded to swallow her lips."

Prson Diary by Jaiprakash Narain, page 21

और अन्धा आरोप कर रहे थे—"जिस विचारक के विचारों में विद्वानों के मन की विसंगति दूर करने की क्षमता थी, हताशा में वह विसंगतियों के ढेर लगा रहा है। श्रीमती इन्दिरा गांधी और श्री जय बाबू के नेतृत्व और व्यक्तित्व में क्या तुलना ? एक घोर संकट के समय देश का नेतृत्व कर रही है और दूसरा चुनाव की तैयारी के लिए जनता के पास न जाकर चुनी हुई विधान सभा को तोड़ने की शोव्देबाज़ी कर रहा है।"

इन्दिराजी के जिस संवाद को मैंने पूर्व में लिखा है और उसके बाद जयप्रकाशजी की जेल-डायरी का जो उद्धरण दिया है, उससे पाठक सहज अन्दाजा लगा सकते हैं कि इन्दिराजी और जय बाबू—दोनों में से हताशा का शिकार कौन था ? उथली शोव्देबाज़ी कौन कर रहा था ? नेतृत्व और व्यक्तित्व किसके पास था ? कुर्सी के पास कौन था और जनता के पास कौन था ?

…और संपादक 'नया जीवन' जनता से पास थे या कुर्सी के पास थे ?

जनवरी १९७५ तक आन्दोलन इतना तीव्र हो चुका था कि देश-भर में हर प्रान्त के मुख्यमंत्री को केन्द्र सरकार से विशेष सतर्कता बरतने की हिदायतें देते हुए कठोरता से दमन कर डालने को कहा गया था। पुलिस के विशेष दस्ते बिहार और कई जगहों पर भेजकर दमन कार्यवाही तेज़ कर दी गई थी।

मार्च १९७५ में सात विरोधी दलों के नेताओं के साथ जयप्रकाशजी के नेतृत्व में दिल्ली में विशाल जुलूस आयोजित हुआ। कई किलोमीटर लम्बे इस जुलूस ने राजधानी के विभिन्न मार्गों से होते हुए संसद-भवन तक यात्रा की और राज्यसभाध्यक्ष श्री बी० डी० जत्ती एवं लोकसभा के अध्यक्ष ढिल्लों के सामने एक मांगपत्र प्रस्तुत करते हुए उसपर तुरंत कार्रवाई के लिए कहा। इस मांगपत्र में बहुत-सी बातें कही गई थीं और वे क्षेत्रीय स्तर की नहीं थीं, बल्कि देशव्यापी समस्याओं की ओर तुरंत ध्यान देने की थीं। कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे थे :

- भूमिसुधार किया जाए ताकि भूमिहीन लोगों को भूमि मिल सके और ग्राम-विकास हो सके।
- आर्थिक असमानता की खाई पाटी जाए।
- महंगाई पर काबू किया जाए। राष्ट्रीय आय की दर के अनुपात में मूल्य हों।
- बिहार विधान सभा और मंत्रिमंडल को भंग करके नये चुनाव कराए जाएं।

- जीवन के लिए मजदूरों की आवश्यकताओं को देखते हुए न्यूनतम मज़दूरी मिले।
- शासकीय व्यय में कटौती की जाए। भ्रष्टाचार दूर हो।
- चुनावों में निष्पक्षता लाई जाए। जनतांत्रिक अधिकारों की सुरक्षा की जाए। और समाज के कमज़ोर वर्ग को उसकी आर्थिक ज़रूरतें पूरी करने के सारे साधन जुटाए जाएं।
- कृषि के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाए ताकि ग्रामो की अर्थ-व्यवस्था का समुचित विकास हो सके।
- राजनीतिक और आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो।
- शिक्षा-पद्धति में सुधार किया जाए।

और भी अनेक महत्त्वपूर्ण मांगें थी, जिनसे देश को एक सही व्यवस्था और सामाजिक आर्थिक विकास तथा स्थायित्व मिलना था।

जनता की मांगें 'जनता के प्रतिनिधियो' तक पहुचाई गईं, पर कुछ नहीं हुआ। शान्तिपूर्ण आन्दोलन चलता रहा।

जनता की मांगों की ओर क्यों ध्यान नही दिया गया ? क्या इसलिए कि सरकार बेखबर थी ? या इसलिए कि सरकार को लगता था कि वे समस्याएं, जो मांगपत्र में उठाई गई थी, देश मे नही हैं ? नही। कांग्रेसी शासन सत्य से जानकार था, किन्तु राजनीति और कुर्सी से विलग होकर सोचने-समझने की उनकी शक्ति ही जाती रही थी। यदि शक्ति होती तो देश के सामने न तो आज की विषम परिस्थितिया खड़ी होती और न जयप्रकाशजी को एक बार फिर आज़ादी की लडाई लडनी पड़ती। इन्दिरा-सरकार ने जिस संकुचित भाव से देश की राजनीतिक स्थिति को देखा था, उसी सकुचित भाव से जयप्रकाशजी के आन्दोलन को देखती रही। यही कारण था कि बार-बार जन-मंच से श्रीमती गांधी आन्दोलन के विरुद्ध बोलते हुए कहती रही कि यह सब उन्हे उखाडने और अपदस्थ करने तथा सत्ता मे पहुंचने के लिए किया जा रहा है। जबकि सच था यह कि आन्दोलन का नज़रिया उतना छोटा नही था, जितना श्रीमती गाधी का था। आन्दोलन का नज़रिया था देश की बुनियादी समस्याओ को सुलझाने के लिए लापरवाह कांग्रेस शासन को ध्यान दिलाना और न ध्यान देने की स्थिति मे उससे मांग करना कि निष्क्रिय नेतृत्व की देश को आवश्यकता नही है, अत. उन्हे पद-त्याग कर पुन॰ जनता अदालत में विश्वास पाने के लिए आना चाहिए।

निश्चित रूप से मेरी राय है कि इस तरह के लेखन और चापलूसी से भरी बातों ने श्रीमती गाधी के अधिनायकवादी स्वभाव को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाया। अपनी डांवाडोल राजनीतिक स्थिति और जनता के जन-जन मे व्याप्त विरोधी विचारो को देखते हुए ही उन्होने एक खतरनाक किन्तु भयावह निर्णय कर कर डाला। यह निर्णय था—आपातकाल ! ···इमर्जेंसी ! ···

'नया जीवन' के टिप्पणीकार ने लिखा है—"हाईकोर्ट के फैसले ने, इसमें शक नही, इन्दिराजी को वैसे ही झकझोर दिया, जैसे १९६२ में चीन के आक्रमण ने जवाहरलालजी को···'

और इस झकझोर से गुज़रती इन्दिराजी सही-गलत का भेद न करके किसी भी तरह अपनी सत्ता बचाए रखने पर तुल गईं। उनकी हठधर्मिता पर वे सब हैरान थे, जो गाधीजी के सत्य-अहिंसा पर विश्वास करते रहे थे और जो अब तक मानते आए थे कि इन्दिराजी काग्रेस के महान आदर्शों की विरासत सम्भाले रहेंगी। इसके बावजूद कि काग्रेस दल मे बहुत-से जनतन्त्रवादियों की निष्ठा खत्म होती जा रही थी (यह निष्ठा जयप्रकाशजी के आन्दोलन के दौरान श्रीमती गाधी की अधिनायकवादी मनोवृत्ति के कारण ज्यादा टूटी थी) भीतरी तौर पर काग्रेस मे भी विद्रोह पनप रहा था। सर्वश्री चन्द्रशेखर, मोहन धारिया, कृष्णकात और रामधन जिन्हे युवा तुर्क कहा जाता था और जो कभी श्रीमती गाधी पर अपना समूचा विश्वास करके कि वे जनतत्र की रक्षक सिद्ध होंगी और समाजवादी नीतियो को देश मे लागू करने के लिए अगुआ बनेंगी, ज़बरदस्त समर्थन देते रहे थे, दबा-दबा विरोध प्रकट कर रहे थे। इन नेताओ मे काम करने की ललक थी, उन्हे काग्रेस के मूल जनवाद की पहचान भी थी और वे जनतत्र में पूरा विश्वास रखते थे, पर अब महसूस करने लगे थे कि इन्दिरा गांधी क्रमश तानाशाही की ओर बढ रही है। इसकी स्पष्ट झलक उस समय मिली थी, जब श्री कृष्णकात ने ११ मई, १९७५ को 'धर्मयुग' के लिए विशेष रूप से दी गई एक भेंट-वार्ता मे काग्रेस-सदस्यो को ज़िद से बाज आने तथा राष्ट्रहित मे श्री जयप्रकाश नारायण से वार्ता करके समस्या का शांतिपूर्ण हल निकालने की बात की। उन्होने आर्थिक पहलुओ पर जयप्रकाशजी से बातचीत करने के लिए विशेष बल दिया था।

प्रकटतः कांग्रेसी स्वयं अनुभव करने लगे थे कि श्रीमती गाधी गलत रास्ते पर जा रही हैं। किन्तु श्रीमती गाधी ने जन-आन्दोलन को अपनी प्रतिष्ठा का

प्रश्न बना लिया, राष्ट्र के हिताहित का विचार न करते हुए अपने अधिनायक-वादी स्वभाव को ज्यादा तेज बनाना जारी रखा। कांग्रेस की जनतंत्रीय व्यवस्था केवल एक व्यक्ति का खेल बनकर रह गई।

रामलीला मैदान में २५ जून, १९७५ को एक विशाल सभा हुई, जिसमें श्री नारायण ने जनता को संबोधित किया। इस सभा में जयप्रकाशजी ने प्रधान-मंत्री से मांग की कि न्यायालय और कांग्रेस के महान सिद्धांतों का आदर करते हुए श्रीमती गांधी को चाहिए कि वे त्यागपत्र दे दें। यदि वे ऐसा नहीं करतीं तब जनता को बाध्य होकर राजधानी में प्रदर्शन करने पड़ेंगे। और ऐसे ही शान्तिपूर्ण प्रदर्शन सारे प्रदेशों में उस समय तक किए जाते रहेंगे, जब तक कि श्रीमती गांधी त्यागपत्र नहीं देतीं।

जय बाबू ने भाषण में यह भी कहा कि राजधानी में ये प्रदर्शन सात दिनों तक चलते रहेंगे। सभा में नारे लगाए गए और जनता ने एकमत होकर जय बाबू की मांग का समर्थन किया।

काली, लंबी रात

२५ जून की रात शुरू हुई। १२ बजे के बाद २६ जून का दिन भी रात में जनम ले रहा था। एक रात सत्ता के दिमाग में छाई हुई थी जो अचानक सारे देश पर बरस पड़ी और जिसने आने वाले सैकड़ों दिन काले कर डाले ! ... यह रात थी—आपातकाल की घोषणा ! सारे देश में यह रात पुलिस की तेज गतिविधियों और सत्ता के निरंकुशवाद से भर उठी। २५-२६ जून की रात को दो बजे श्री जयप्रकाश नारायण गिरफ्तार कर लिए गए। श्री मुरारजी भाई और अन्य सभी प्रमुख नेताओं को जेलों में पहुंचाया गया। ये नेता कहां, किस जगह ले जाए गए थे—किसीको सूचना तक नहीं दी गई।

प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने देश के नाम एक भाषण में कहा कि आपातकाल इसलिए लगाया जा रहा है, क्योंकि देश की आंतरिक स्थिरता खतरे में पड़ गई है। विदेशी शक्तियों से संचालित लोग इन गड़बड़ियों के कारण हैं। कानून और व्यवस्था बिगड़ चुकी है और इस अराजकता में असा-माजिक तत्त्व हावी हो रहे हैं। उनके (श्रीमती गांधी के) सामने इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह गया था कि वे सख्ती के साथ अराजकता पर काबू करें और असामाजिक तत्त्वों को कुचल डालें।

कौन थे ये असामाजिक तत्त्व ? जयप्रकाश नारायण ? मुरारजी भाई ? अटलविहारी वाजपेयी ? अशोक मेहता ? चन्द्रशेखर ?…

उत्तर नही है ! इतिहास कहता रहेगा कि इस आपातकाल रूपी काली घिनौनी रात से शुरू हुई तानाशाही के पास कोई कारण नही था। सिर्फ झूठे और वेबुनियाद आरोपों से भरे प्रचार के अतिरिक्त !

सच के मुंह पर ताला डाल दिया गया। अखबारों पर सेंसर, जन-सभाओं और जन-प्रदर्शनो पर रोक, गिरफ्तारी का कारण जानने पर रोक। आपातकाल !…किसका आपातकाल ? देश का ?

नही, कुछ कुर्सियों का ! जो सत्य-अहिंसा की शक्ति के सामने लड़खड़ा गई थी। जिनके पैरों मे भ्रष्टाचार, अन्याय और बर्बरता का घुन लग चुका था।

प्रचार-तंत्र ने आश्चर्यजनक रूप से तेज़ी पकडी। एक गलत कारंवाई के प्रति सारे देश के जन-मानस मे आक्रोश और घृणा की लहर थी। क्या व्यक्ति-स्वातंत्र्य, मूल मानव-अधिकारों और न्याय की हत्या कर देने का नाम जनतंत्र है ? यह एक नई परिभाषा थी, जो आपातकाल के रूप में, उस संस्था का नेतृत्व कर रही थी, जिसने उक्त सारे नारे लेकर ब्रिटिश शासन की गुलामी के विरुद्ध कभी इन्कलाब किया था। क्या ये वही कांग्रेसी हैं ? क्या वह वही सत्ता है ? क्या इन्हे ही हमने अपनी रक्षा के लिए देश के आसन सौंपे थे ?

नही ! देशवासी ठगे गए !

आपातकाल के नाम से सारे देश मे तानाशाही की स्थापना हुई। करोडों लोग चुपचाप, निराश, थकी निगाहों से विस्मय और आतंक के साथ अमानवीय अत्याचार देख-सह रहे थे। न कोई नियम था, न कानून, न व्यवस्था, न व्यक्ति-भेद। जो कुछ था, वह सिर्फ एक—श्रीमती इन्दिरा गाधी !

तानाशाही आएगी—पिछले कई बरसों से कई नेता कहते रहे थे। जनसंघ ने १९७० के आम चुनावों मे निरन्तर दोहराया था कि श्रीमती गाधी के भीतर तानाशाह बैठा हुआ है, जो हिटलर और मुसोलिनी मे था। उस क्षण कांग्रेस-मंच से जन-स्तर पर और शासकीय स्तर पर निरतर प्रचार किया जाता रहा था कि विरोधी दल देश के लिए कोई कार्यक्रम लेकर नही लड़ रहे हैं, बल्कि उन्हें श्रीमती इन्दिरा गांधी से व्यक्तिगत डाह है और इसीलिए उन्होंने नारा दिया है—'इन्दिरा हटाओ !'

श्रीमती गांधी ने उस अवसर पर अनेक चुनाव-सभाओं को सम्बोधित

करते हुए कहा था—"संघ ने मुझे हिटलर और मुसोलिनी का संयुक्त रूप बतलाया है, पर सच यह है कि भारत में हिटलर के उत्तराधिकारी वही हैं!"

इस आपातकाल ने साबित कर दिया—क्या है सच! लाख-लाख मुंहों से जनसंघ-नेताओं के लिए किए गए कुप्रचार ने जन-सामान्य को बरगलाया, किन्तु आपातकाल ने सच सामने उजागर कर डाला। कौन था तानाशाह!

मुझे याद है, एक बार श्रीमती गांधी ने अटलबिहारी वाजपेयी से चिढ़कर, व्यक्तिगत रूप से क्रोधावेश से ऊल-जलूल बोलते हुए कह दिया था—"अटलजी लोकसभा में हाथ उठा-उठाकर इस तरह बोलते हैं, जैसे हिटलर हैं!"

इसपर श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने एक आमसभा में चुटकी ली। कहा—"इन्दिराजी कहती हैं कि मैं हाथ उठा-उठाकर बोलता हूं। मगर मैं उनसे पूछना चाहता हूं कि है कोई ऐसा आदमी, जो टांग उठाकर बोलता हो?"

बहरहाल यह बात हुई राजनीतिक चुटकियों की, किन्तु चुटकी अर्थहीन नहीं होती। अक्सर उसमें भविष्य के सत्य की कोई तेजस्वी किरण छिपी रहती है। इन्दिराजी ने अपने शासन-काल में जनसंघ को लेकर जिस तरह, जितनी बार हिटलर का नाम और तानाशाही शब्द दोहराया था, वह निश्चित रूप से उनके अनजाने ही उनके मन में कहीं न कहीं समाया हुआ था और जयप्रकाशजी के आन्दोलन से बौखला-घबराकर वह विचार एक विस्फोट की तरह उबलकर साकार रूप में सबके सामने आ गया।

मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अनजाने ही आदमी उस सबको बोलता रहता है, जो उसके अन्तर्मन में कहीं न कहीं बैठा होता है। इन्दिराजी का बार-बार जनसंघ के नाम पर 'हिटलर! हिटलर!' चीखते रहना, उनके अन्तर्मन में बैठे हुए हिटलर के कारण ही होता था। और यह हिटलर उबल आया था। उसके पास गोयबल्स किस्म के कई प्रचारमंत्री थे और आइखमैन किस्म के कई खतरनाक हत्यारे थे।

जनता के बीच एक ओर रेडियो, टेलीविज़न, गूंगे कर दिए गए; अखबार और अनुदान-सम्मान प्राप्त कलाकार आपातकाल का गुणगान कर रहे थे और 'देश को बचा लिया' के गीत गुनगुना रहे थे, दूसरी ओर कुछ लोग थे जो लम्बी-लम्बी पोथियां या वाक्यांश लिखकर समर्थन का गाना गा रहे थे। व्यक्तिगत रूप से इन्दिराजी का गुणगान भी कर रहे थे।

श्री ख्वाजा अहमद अब्बास ने लिखा है—"पिछले वर्ष उन्होंने जिस आपात-स्थिति की घोषणा की, उसने जादू-सा कर दिया। जाने कितनों को उन्होंने जेल

के सीखचों के अन्दर कर दिया। उन लोगों को, जिन्हे बहुत पहले ही जेल में होना चाहिए था ! ⋯ जो भूत बातों से नही मानते थे, उनको बड़ी निर्ममता के साथ लातो से ठीक कर दिया। इस प्रकार उन्होने साबित कर दिखाया है कि पूरे मंत्रिमंडल में अकेली वे ही 'मर्द' हैं !"

एक और स्थान पर इसी पुस्तक मे इन्दिराजी को घोर लोकतंत्रवादी सिद्ध करते हुए अब्बास कहते हैं—"किसी जनतंत्रीय नेता के व्यक्तित्व का आकलन करने के लिए दस वर्षों की अवधि पर्याप्त होती है। श्रीमती गांधी के प्रसंग में तुलना कर पाना एक कठिन कार्य है, क्योंकि सबसे पहले तो उनकी तुलना उनके यशस्वी और नेकदिल पिता पंडित जवाहरलाल नेहरू से की जा सकती है। दोनों ही समाजवादी और राजनीतिशास्त्री (स्टेट्समैन) रहे है, लेकिन जबकि पिता एक आदर्शवादी थे, साहस और सज्जनता के सागर थे, बेटी यथार्थ की धरा पर खड़ी रहनेवाली, कर्म में अग्नि मे तपा फौलाद है। उनको कानूनी अदालतों ने पंगु बना रखा था। बहुत-से क्रांतिकारी सुधार जो वे करना चाहती थी इसलिए नहीं कर पाई कि या तो उनको उनके उन वरिष्ठ समकालीनों ने काट दिया या, जिनसे वे घिरी रहती थी, या उनकी राह मे अदालतें आ जाती थी, जो संविधान का अर्थ निकालती थीं।"

आपातकाल के समर्थन मे सम्पादक 'नया जीवन' लिखते है—'पिछले दस वर्षों मे विरोधी दलो के नेताओ ने रात-दिन परिश्रम किया था। कृपालु प्रधानमंत्री ने उन सबको आरामगाहो मे भेज दिया और उनके लिए भोजनादि की उत्तम व्यवस्था कर दी। जैसे शरीर का मोटापा होता है, वैसे ही अक्ल का भी मोटापा होता है। वह इन नेताओ को भी हो गया था कि सारे देश की जनता हमारे साथ है, पर इनकी गिरफ्तारियो पर शहर और प्रदेश तो क्या रोते, इनके मुहल्लेवालो तक ने उस दिन ताश की चौकडी मे हड़ताल नही की। इमर्जेंसी की उपयुक्तता के लिए और किस जाच-पड़ताल की जरूरत है ?"

ऐसे कई थे हमारे देश के पत्रकार, जो श्रीमती इन्दिरा गांधी के अधिनायकवाद में उनसे भी चार हाथ आगे जाकर 'धन्य-धन्य' की पुकारें लगा रहे थे और दमन के क्रूर दौर मे सामाजिक-राजनीतिक जीवन के साथ 'ताश की चौकड़ी' पर बैठे हुए थे।

श्रीमती इन्दिरा गाधी तानाशाही स्थापित कर देंगी, यह अगर विरोधी कहते रहे थे तो काग्रेस मे भी बहुतो ने आशका व्यक्त की थी। 'धर्मयुग' को दी गई एक भेंट में युवा तुर्क रामधन ने बहुत पहले स्पष्टत. कह दिया था कि

श्रीमती गांधी आपातकाल की घोषणा करके तानाशाही लाएंगी। २५ जून, १९७५ की शाम को 'धर्मयुग' के उदयन शर्मा ने कृष्णकांत से भेंट की थी। कृष्णकांत बोले थे—'तानाशाही की संभावना है!'

और कांग्रेस की दशा क्या हो चुकी थी! ऐसे, जैसे भेड़ों का एक गल्ला है, जिसे अकेला गड़रिया जी चाहे जिस दशा में हांक सकता है। तब क्या वह कांग्रेस बची थी? यदि सचमुच कांग्रेस संस्था में सिद्धांत और सिद्धांतवादी कांग्रेसजन शेष रहे होते तो जयप्रकाशजी को यह न लिखना पड़ता :

'कौन है, जिसे सच्चा कांग्रेसी कहा जाएगा? क्यों बहुत दबी-दबी बातें करते हैं? इससे ज़ाहिर होता है कि बहुत कम, या नाममात्र के लिए सच्चे कांग्रेसी बचे हैं। चन्द्रशेखर और रामधन की गिरफ्तारी के बाद जो सच्चे कांग्रेसी बचे थे, उनके पास विद्रोह करने का पर्याप्त साहस नहीं था। और युवा तुर्कों की अदला-बदली और उनकी गिरफ्तारी के बाद, जो भी दूसरे कांग्रेसी बचे थे, वे केवल स्वयंसेवी और 'जी-हुज़ूरी' करने वाले यानी 'यस मैन' थे।'[1]

केवल जय बाबू ने ही नहीं, बहुत पहले अनेक कांग्रेसियों ने भी यह स्वीकार कर लिया था कि कांग्रेस नाम से जो दल सत्ता पर सवार है, वह कांग्रेस नहीं है। कृष्णकांत ने तो बड़ी बुलन्दी से इस सत्य को स्वीकार किया था। जब आपातकाल की घोषणा हुई, तब उन्होंने उसका विरोध किया और उसे एक तरह से अप्रजातांत्रिक बतलाया। इसपर कांग्रेस की महासचिव श्रीमती चन्द्रशेखर ने उन्हें एक पत्र लिखा और उस पत्र का उत्तर ४८ घण्टे के भीतर-भीतर देने का निर्देश किया। कारण था, कृष्णकांत द्वारा संसद में स्पष्ट रूप से अपने मौलिक विचार प्रकट करना। जिनके अनुसार आपातकाल की घोषणा को उन्होंने गलत ठहराया था। कृष्णकांत और अन्य युवा तर्कों से दल के भीतर

---

1. "Why have they meekly submitted? It seems that there are in reality very few true Congressmen."
"And after the arrest of Chandra Shekhar and Ramdhan and the excommunication of the other young turks, these true congressmen also have not courage enough to rebel. Most of the others have no ideological convictions and are pure self-seekers and Jee-huzurs (yes-men)."
Prison Diary by Jaiprakash Narain, page 14

निरंतर बढ़ते जाते अधिनायकवाद को लेकर पहले ही खींचातानी चल रही थी। अधिनायकवाद के परिणामस्वरूप ही उन्हें कांग्रेस अध्यक्ष, सभी कांग्रेस समितियों की सदस्यता और प्राथमिक सदस्यता से निलम्बित कर चुके थे, किन्तु संसद में उनके ज़ोरदार विरोध के बाद निश्चित किया गया था कि कृष्णकांत को दल से ही निकाल बाहर किया जाए। अपने-आपमें मज़ेदार और अत्यंत हास्यास्पद बात यह है कि ये सारी कार्रवाई उस व्यक्ति के इशारे पर हो रही थी जो कभी स्वयं ही 'आत्मा की आवाज़' का नारा देकर संस्था में धीमे-धीमे अधिनायकवादी सत्ता अपनाता गया। यदि कृष्णकांत ने संस्था के लोकतंत्री रूप और वैचारिक विरोध की स्वतंत्रता के आधार पर एक गलत काम का विरोध किया तो यह अपराध था या एक ईमानदार और सच्चे कांग्रेसी का सत्य ? यही कारण था कि कृष्णकांत ने श्रीमती चन्द्रशेखर के पत्र का उत्तर देते हुए निर्भीकता से लिखा :

"‥‥कांग्रेस में मिली-जुली विचारधाराओं का शुरू से ही प्रतिनिधित्व होता रहा है। इसने कभी बन्द दरवाज़ों वाली नीति नहीं अपनाई और न ही सर्व-सत्तात्मक दलों की तरह कार्य किया।" आगे उन्होंने स्पष्ट शब्दों में दल के भीतर समा गए अधिनायकवादी रुख और देश पर लादे जा रहे फासिज़्म को चुनौती दी थी, "आपने अपने पत्र में 'धर्मयुग' के इण्टरव्यू की बात उठाई है। जैसा कि आप जानती है, चाहे वह वाम की हो या दक्षिण की, मैं हर प्रकार की अधिनायकवादी विचारधारा के खिलाफ हू मेरा अतीत और मेरी गतिविधियां खुली किताब हैं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी फासिस्ट या अन्य किसी अधिनायकवादी नीति को मेरे समर्थन देने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

. इस सारे सन्दर्भ के साथ, बाद में, जब तानाशाही की पराजय हुई और लोकतंत्र ने पुन देश को सही नेतृत्व दिया, तब 'धर्मयुग' को दिए एक इंटरव्यू में कृष्णकांत ने कहा—"यह कांग्रेस, कांग्रेस नहीं रही। यह तो वो संस्था नहीं है, जिसने आज़ादी की लड़ाई लड़ी थी। जिसके लिए मेरा पूरा परिवार जेल गया था—डंडे खाए थे। यह मुर्दा कांग्रेस है। यदि अंग्रेजों के ज़माने में यह कांग्रेस और कांग्रेसी होते तो अंग्रेज़ों से मिल जाते और देश को बेच खाते।"[1]

राजस्थान से जनता पार्टी के नेता और हाल में चुनकर आए संसद-सदस्य श्री भैरोंसिंह शेखावत ने एक मुलाकात में मुझे बतलाया था कि आपातकाल

---

१. धर्मयुग (२४ अप्रैल, १६७७ में प्रकाशित टिप्पणी के आधार पर)

लगाने के लिए जितने भी तथाकथित कारण इन्दिरा-शासन ने जनता के सामने बतलाए थे, उनमें से एक भी सच नहीं था। सच तो यह था कि सत्ता डग-मगाने लगी थी और उसपर स्थायी रहने के लिए अकारण ही कारण ढूंढ़ लिए गए थे। श्री शेखावत से जब मैंने यह पूछा कि क्या श्रीमती गांधी की सत्ता जयप्रकाशजी के आंदोलन के कारण हिल गई थी ?

"हां।" श्री शेखावत ने उत्तर दिया, "पर आपातकाल लागू करने का कारण केवल आंदोलन नहीं था, और बहुत कुछ थे। सबसे बड़ा कारण था, उनके अपने दल में ही भीतरी तौर पर आंदोलन के सत्यों को स्वीकार लिया जाना। श्रीमती गांधी महसूस कर रही थीं कि दल में दबा-घुटा ही सही, पर असंतोष है।"

"पर यह विरोध उभर तो नहीं सका ?" मेरा प्रश्न था।

"इससे पहले कि ठीक तरह उभर पाए, उन्होंने आंदोलन को कुचलने के लिए तानाशाही स्थापित कर दी।"

"क्या आपको आशंका थी कि श्रीमती गांधी ऐसी अप्रजातांत्रिक रुख अपना सकती हैं ?"

"बेशक !" शेखावतजी का उत्तर था, "यह समझने के लिए श्रीमती गांधी के शासन वाले पिछले कई साल हम लोगों के सामने थे।"

किन्तु महान अहिंसक क्रांति के जनक लोकनायक जयप्रकाशजी को उस समय तक विश्वास नहीं था कि इन्दिरा गांधी वैसा अलोकतांत्रिक कदम उठा सकती हैं। क्या इसलिए कि जय बाबू एक राजनीतिज्ञ से ज़्यादा विचारक और क्रांतदर्शी हैं ? या यह कि जयप्रकाशजी के राजनीतिक संस्कारों में सत्तालिप्सा की वैसी घिनौनी कल्पना ही नहीं हो सकती थी ? या इसलिए कि जयप्रकाशजी ने—जिन्होंने स्वयं अनेक बार यह स्वीकार लिया था कि अधिनायकवाद है, पर वह इस सीमा तक जा सकता है—कल्पना नहीं की थी ? जय बाबू ने अपनी जेल-डायरी में २१ जुलाई, १९७५ को आश्चर्य, अविश्वास और दुख प्रकट करते हुए लिखा—"मेरा विश्वास गलत हो गया कि किसी जनतंत्र में किसी शांतिपूर्ण और जनतांत्रिक आंदोलन को कुचलने के लिए कोई प्रधानमंत्री तमाम सामान्य और असामान्य कानूनों का उपयोग करके जनतंत्र को ही खत्म कर डालेगा। मेरा यह विश्वास भी गलत हो गया कि कोई प्रधानमंत्री यदि ऐसे तरीके अपनाए तो, उसके वरिष्ठतम साथी और

उसका दल, जिसकी उच्चतम जनतांत्रिक परम्पराएं है, उसे ऐसा करने की स्वीकृति देंगे, किन्तु वह सब हुआ जो अविश्वसनीय है !"[1]

इस तरह जय बाबू का अविश्वसनीय, बहुतों का विश्वसनीय तथा चाटुकार नेताओं और बुद्धिजीवियों का प्रशसनीय घट गया था।

२६ जून, १६७५ की लम्बी काली रात के प्रारंभ के साथ ही देश के समाचार-विचार क्षेत्र मे अंधेरा कर दिया गया। यह किसी भी तानाशाही का सबसे तीखा और खतरनाक प्रारंभ होता है, जब लोगों का सोचना-समझना बन्द कर दिया जाए और देशहित के नाम पर हर शासकीय कदम के पहलुओं को केवल एक नजरिये से, जो कि सत्ताधारी का नजरिया होता है, दिखलाया जाने लगे।

भारत रक्षा अधिनियम के तहत युद्धकाल के लिए सेंसर के अधिकार धारा ४८ के अनुसार भारत सरकार को मिले थे। उस समय बंगला देश का युद्ध (सन् १६७१) चल रहा था। पर धारा ४८ के अन्तर्गत मिले इस अधिकार का उपयोग आपातकाल में किया जाने लगा। इसपर सोचने की आवश्यकता नही समझी गई कि उक्त अधिकार किस स्थिति मे उपयोग किए जाने चाहिए। वे आवाजें घोंट डाली गई थी, या घोंटी जा रही थी, जो पूछ सकती थी। इस तरह जनता को वह बतलाया जाने लगा, जिसे श्रीमती गांधी की तानाशाही बतलाना चाहती थी और वह सब गुम हो गया जो देश मे घट रहा था।

समाचारपत्रों को सूचना प्रसारण मन्त्रालय के अधिकारी फोन पर क्या छपना है, क्या नही—ये सूचनाएं प्रसारित करने लगे। इनमे औसत समाचार वे होते थे, जिनका संबंध व्यक्तिगत रूप से सत्ताधारियों या तानाशाही के

---

1. "I went wrong in assuming that a Prime Minister in a democracy would use all the normal and abnormal laws to defeat a peaceful democratic movement, but would not destroy democracy itself and substitute for it a totalitarian system. I could not believe that even if the Prime Minister wanted to do it, her senior colleagues and her party, which has had such high democratic tradition, would permit it. But the unbelievalde has happened."

Prison Diary by Jaiprakash Narain, Page 11

समर्थकों से था। उन सभी समाचारों पर पाबन्दी थी जो तानाशाही के विरोधी हो सकते थे या उसके बारे में विचार प्रस्तुत कर सकते थे। यहां तक कि किसी भी किस्म की ज़्यादती को प्रकाशित नहीं किया जा सकता था। यदि ऐसा किया जाता तो समाचारपत्र के संपादक और प्रकाशक को आंसुका (मीसा) में गिरफ्तार कर जेल में डाला जा सकता था तथा अखबार के दफ्तर पर ताला लगाया जा सकता था।

मुझे स्मरण है कि आपातकाल की घोषणा के बाद दिल्ली और देश के विभिन्न नगरों से प्रकाशित होने वाले अनेक समाचारपत्रों ने अपने सम्पादकीय के स्थान पर ब्लैकबॉर्डर लगाकर खाली जगह छोड़ दी थी। यह एक तरह का मौन और शिष्ट विरोध था कि जनतंत्र और विचार प्रकटीकरण के मूल मानव-अधिकार की हत्या की जा रही है और वे उसका विरोध करते हैं। दिल्ली के एक पत्र ने तो ऐसी खाली जगह पर मोटे-मोटे टाइप में छापा था—'हमारी आवाज़ छीन ली गई है।'

निरंकुश तानाशाही के इस घिनौने चक्र का संचालन श्रीमती गांधी के अत्यन्त विश्वसनीय साथी श्री विद्याचरण शुक्ल कर रहे थे और उन्होंने कितनी वफादारी और 'ईमानदारी' के साथ अपना यह कर्म-धर्म निबाहा, इसी पुस्तक में कहीं आगे पढ़ने को मिलेगा।

और यह कार्रवाई उस दिमाग से निकली थी जो कभी चीख-चीखकर लोकतंत्र, प्रेस-स्वतंत्रता और मुक्त समाज की दुहाई दिया करता था। कितना दोहरा चेहरा? कितना झूठ और कितना सत्य? पाठक स्वयं ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं। ख्वाजा अहमद अब्बास ने अपनी पुस्तक[1] में विवरण दिया है:

"विरोधी दलों के इस आरोप का ज़िक्र करते हुए कि इन्दिरा गांधी लोकतंत्र को नष्ट कर रही हैं, उन्होंने कहा कि इन्दिरा गांधी उन्हें (विरोधी दलों को—भ्रमर) यह मौका दे रही हैं कि वे जनता के मत यदि ले सकें तो लोकतांत्रिक ढंग से चुनकर आएं। क्या इसका मतलब लोकतन्त्र का अन्त होता है? तब वे अखबार वालों की ओर मुड़ीं। वे वहां बड़ी संख्या में मौजूद थे। इन्दिराजी ने कहा कि आप जानते हैं कि कौन इन्दिरा गांधी के पक्ष में लिख रहा है और कौन उसके विरुद्ध लिख रहा है। क्या हम आपको यहां आने से

१. इन्दिरा गांधी: सफलता के दस वर्ष (पृ० ७६-७७)

और जो आप चाहें वह लिखने से रोकते हैं ? तानाशाही विरोधी अखबारों का गला घोटने से शुरू होती है। मैं जानना चाहूंगी कि क्या किन्हीं अखबारों को दबोचा गया है ?"

और आपातकाल में क्या हो रहा था ? देशहित के नाम पर किसका गला घोंटा गया था ? इन्दिराजी हमेशा दुहाई देती रहीं और कहती रहीं कि "तानाशाही विरोधी अखबारों का गला घोंटने से शुरू होती है।" और क्या इस बात से इनकार किया जा सकता है कि उन्होंने वह स्वयं किया ?

और जिस स्तर पर किया—वह उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करता हूं। गत दिनों जनता पार्टी के केन्द्रीय कार्यालय ने एक प्रेस-विज्ञप्ति निकालकर उन समाचारों की सूची दी थी, जिन्हें देशहित (?) में आपातकाल के दौरान सेंसर द्वारा निर्देशित किया गया था कि वे किस तरह छपें या न छपें।

० अभिनेत्री नरगिस पर विशेष कृपालुता दिखाते हुए २८ मई, १९७६ को सेंसर ने अखबारों को हुक्म दिया कि दूकान से सामान चुराने के आरोप में नरगिस की गिरफ्तारी के बारे में लन्दन की समाचार-सूचना प्रकाशित न की जाए।

० १६ जुलाई १९७६ को श्री जयप्रकाश नारायण की गतिविधियों के बारे में समाचार प्रकाशित करने पर रोक लगाते हुए बतलाया गया कि कानून व व्यवस्था के हित में ऐसा किया जाना चाहिए।

० आंध्रप्रदेश न्यायालय के एक न्यायाधीश के स्थानांतरण का समाचार प्रकाशित न किया जाए। निर्देश—८ जून, १९७६।

० श्री जेठमलानी, जो इण्डियन बार कौंसिल के अध्यक्ष हैं और उस समय अमेरिका में थे, उनके बारे में, ६ सितम्बर, ७६ को आदेश हुआ कि उनसे सम्बन्धित कोई समाचार न छापा जाए। यदि छापा जाए तो सेंसर को दिखला लिया जाए।

० १६ दिसम्बर, १९७६ को अखबारों को निर्देश मिला कि कांग्रेस पार्टी के भीतरी झगड़ों और युवक कांग्रेस तथा अखिल भारतीय कांग्रेस के बीच के झगड़ों को किसी भी रूप में प्रकाशित न किया जाए।

० २ जून, १९७६ को उद्योगपति डी० पी० गोयनका के बारे में कोई भी समाचार न छापने का निर्देश।

० १ अप्रैल, १९७६ को निर्देश हुए कि परिवार नियोजन-सम्बन्धी किसी

भी किस्म का आलोचनात्मक समाचार, यहां तक कि संपादक के नाम पत्र भी, प्रकाशित न किया जाए।

○ तुर्कमान गेट पर हुए बर्बर अत्याचारों को लेकर २१ अप्रैल, १९७६ को सेंसर आदेश हुआ कि वही विवरण प्रकाशित हों, जो सरकार दे। यहां तक कि शीर्षक भी वही जाए जो सेंसर से पास हो।

○ २८ अप्रैल, १९७६ के सेंसर आदेश के अनुसार उस समारोह का कोई भी चित्र या समाचार प्रकाशित नहीं किया जाना था, जिसमें से श्री संजय गांधी उठकर चले गए थे।

○ जूनियर वकीलों ने दिल्ली उच्च न्यायालय तक जुलूस ले जाकर प्रदर्शन किया था। इस प्रदर्शन के समाचार प्रकाशन पर २९ मार्च, १९७६ को रोक लगाई गई।

○ १० अगस्त, १९७६ को आदेश दिए गए कि सुब्रह्मण्यस्वामी के बारे में कोई समाचार प्रकाशित न किया जाए।

○ १५ मार्च, १९७६ को सेंसर ने गुजरात में राष्ट्रपति शासन लागू किए जाने के सम्बन्ध में किसी भी तरह की रपट, टिप्पणी या समाचार के प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यदि कुछ छापा जाना है, तो पहले सेंसर कराया जाए।

○ २६ फरवरी, १९७६ को तमिलनाडु में राष्ट्रपति-शासन लागू किए जाने के आदेश पर श्री करुणानिधि द्वारा दिल्ली और मद्रास के उच्च न्यायालयों में दायर की गई याचिकाओं का समाचार प्रकाशित न किया जाना निर्देशित हुआ।

○ श्री तुलमोहनराम के मुकदमे की रिपोर्ट छापने से पहले सेंसर कराई जाए—निर्देश दिनांक : ३ फरवरी, १९७६।

सितम्बर, १९७५ से दिसम्बर, १९७५ तक जो सेंसर आदेश हुए, उनमें से कुछ हैं :

○ दिल्ली की झुग्गी-झोंपड़ियों को तहस-नहस कर दिए जाने के सम्बन्ध में कोई भी समाचार, चित्र, टिप्पणी, रपट प्रकाशित करने के पूर्व सेंसर को बतलाई जाए।

○ बोनस को लेकर जो सांकेतिक हड़तालें हुईं, उनके समाचार प्रकाशित न किए जाएं।

o छह सूत्री कार्यक्रम के बारे मे राष्ट्रपति के आदेश पर किसी भी किस्म की टिप्पणी किए जाने पर रोक।

o आसुका (मीसा) में नज़रबन्द किए गए व्यक्तियों द्वारा अपने मुलाकातियो पर रोक लगाने को लेकर हुए सरकारी आदेश पर दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय प्रकाशित न किया जाए।

o बाबू जयप्रकाश नारायण की बम्बई-यात्रा का समाचार सेंसर किया जाए तथा उनका चित्र प्रकाशित न किया जाए।

o तिहाड़ जेल मे हुई घटनाओं के बारे मे कोई भी समाचार प्रकाशित न किया जाए।

o बम्बई अपील केस पर न्यायाधीश खन्ना का निर्णय प्रकाशित न किया जाए।

ये कुछ उदाहरण थे सेंसर द्वारा तथाकथित 'देशहित' में रोके गए समाचारों के।

आपातकाल की घोषणा के फौरन बाद इन्दिराजी स्वय और उनके विशिष्ट साथी यथा वसीलाल, ओम मेहता, विद्याचरण शुक्ल, जिनके पास क्रमशः सरकार के सभी महत्त्वपूर्ण विभाग—रक्षा, गृह और सूचना प्रसारण मत्रालय थे, निरंतर एकस्वर होकर इस प्रचार मे लग गए थे कि केवल देश को ही नहीं, देश के मूर्धन्य सत्ताधारी नेताओ को खतरा बढ गया था। कहा जा रहा था कि जयप्रकाशजी के आदोलन को विदेशी शक्तिया चला रही थी, इसलिए आपातकाल लागू करना अनिवार्य हो चुका था। श्रीमती गाधी ने यहां तक कह डाला कि इस आदोलन का मकसद सरकार का कामकाज ठप्प कर डालना था। एक व्यक्ति (जयप्रकाशजी) असैनिक कर्मचारियों और सेना मे विद्रोह भड़काने की कोशिश कर रहा था।

इस कुप्रचार का खडन कौन करता? जिनके पास जवाब थे और जिनके पास सच था, वे जेलो मे थे या कालकोठरियो मे भयानक नारकीय यतणाएं देकर सताए जा रहे थे। स्वयं जयप्रकाशजी ने इस बेबुनियाद और दु सह प्रचार को लेकर चंडीगढ़ से प्रधानमत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी को पत्र लिखा। खेद और दु ख की बात यह थी कि उस अधेरी काली रात के रहस्यकाड मे इस पत्र को भी श्रीमती गांधी पचा गईं। बाद मे यह पत्र जनता पार्टी ने अखबारों को प्रकाशनार्थ वितरित किया।

यह पत्र विभिन्न भारतीय भाषाओं के समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ

था और इसका प्रत्येक शब्द एक अहिंसावादी आंदोलनकारी की व्यथा से पूर्ण ही नहीं है, उन तर्कों से भरा हुआ है, जिनका उत्तर इन्दिराजी के पास था ही नहीं।[1] यहां उस पत्र को संक्षेप में उधृत कर रहा हूं :

प्रिय प्रधानमंत्री,

मैं आपके भाषणों और भेंट-वार्त्ताओं के वृत्तांत पढ़कर अवाक् रह गया हूं। यही एक बात कि आपको अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करने के लिए प्रतिदिन कुछ न कुछ कहना पड़ रहा है, आपके मन का चोर प्रकट कर देती है। अखबारों का और सब प्रकार की असहमति का मुंह बन्द कर आलोचना या खंडन के भय से मुक्त होकर आप असत्य और मनगढ़ंत बातें कहे चली जा रही हैं।

आपके आलाप की टेक, जैसा मैं समझ पाया हूं, यह है कि (क) सरकार को ठप्प कर देने की योजना थी, (ख) एक व्यक्ति असैनिक कर्मचारियों और सैनिकों में विद्रोह फैलाने का प्रयत्न कर रहा था।

चूंकि इस आक्षेप का पात्र मैं ही हूं, इसलिए बात साफ हो जाने दीजिए। हो सकता है कि आपको इसमें कोई दिलचस्पी न हो क्योंकि आप जितना असत्य बोलतीं और तथ्यों की तोड़-मरोड़ करती हैं, वह सब जानबूझकर और इच्छा से करती है। पर कम से कम सत्य दर्ज तो हो जाएगा। सरकार को ठप्प करने की कोई योजना नहीं थी और यह बात आप भी जानती हैं। तथ्य ये है—

भारत के सब राज्यों में बिहार ही था, जहां कोई जन-आंदोलन हो रहा था। वह फैल रहा था···और गांवों में गहरे पैठता जा रहा था···यदि आपने जनता सरकार के कार्यक्रम को देखा हो तो आपने पाया होगा कि बहुलांश में वह रचनात्मक था जैसे सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को नियमित करना, प्रशासन के निचले स्तरों पर भ्रष्टाचार रोकना, भूमिसुधार कानून लागू करना, समझौते और पंचाट के चिरप्रचलित तरीके से विवाद निपटाना, हरिजनों को न्याय दिलाना और तिलक और दहेज जैसी सामाजिक कुरीतियों को दूर करना आदि। इस सबमें ऐसा कुछ नहीं है कि जिसे किसी तरह भी विध्वंसक कहा जा सके···नगर-क्षेत्रों में आंदोलन की तेजी के दिनों में कुछ दिन के लिए धरना और पिकेटिंग द्वारा सरकारी

1. अंग-अनुवाद, 'दिनमान' से साभार

कार्यालयो का काम रोकने का प्रयत्न किया गया। पटना मे जब भी विधान सभा की बैठक होती, सदस्यों को त्यागपत्र देने के लिए समझाने के और भीतर जाने से रोकने के शांतिमय प्रयत्न होते। ये सब कार्यक्रम सिविल नाफरमानी के सोचे-समझे कार्यक्रम थे। और राज्य-भर में हज़ारों आदमियो-औरतों ने इसमें गिरफ्तारियां दी थी।

यदि यही सब बिहार सरकार को ठप्प करने का प्रयत्न है तो कहना होगा कि यह उसी तरह का प्रयत्न था, जैसाकि ब्रितानी सरकार को ठप्प करने के लिए आज़ादी की लड़ाई के दिनो मे असहयोग और सत्याग्रह द्वारा किया गया था।...आपका एक अत्यंत प्रिय प्रश्न है कि निर्वाचित सरकारों और निर्वाचित विधानमडलो को हटने के लिए कहने का किसीको क्या अधिकार है? पर इसका उत्तर न जाने कितनी बार सुविख्यात संविधान-विदों और अन्य योग्य व्यक्तियो द्वारा दिया जा चुका है।

उत्तर यह है कि किसी लोकतंत्र में निर्वाचित सरकार यदि भ्रष्ट हो जाए और कुशासन करती रहे तो उससे त्यागपत्र मांगने का अधिकार जनता के पास अवश्य होता है। और यदि कोई विधानमडल हो जो ऐसी सरकार को समर्थन देता ही चला जाए तो उस विधानमडल को भी हटाना होगा ताकि जनता अपने बेहतर प्रतिनिधि चुन सके। बिहार सरकार को विद्यार्थियो की मागो पर बातचीत से निबटारा करने का अवसर था परन्तु उसने सघर्ष अर्थात् बेमिसाल दमन का तरीका बेहतर समझा। ऐसा ही उत्तरप्रदेश सरकार ने भी किया। अगर दोनों सरकारो ने बातचीत का रास्ता छोड़ न दिया होता तो कोई आदोलन ही न हुआ होता।

मैं यह पहेली बूझने की कोशिश करता रहा हू कि इन सरकारो ने अक्लमंदी क्यों नही दिखाई और इस नतीजे पर पहुचा हू कि उनकी सबसे बडी बाधा थी भ्रष्टाचार। किसी न किसी वजह से ये सरकारें अपने भीतर, विशेष रूप से सर्वोच्च स्तर पर, मत्रिस्तर पर ही, भ्रष्टाचार को दूर करने मे असमर्थ रही हैं। और आंदोलन मुख्यतया भ्रष्टाचार के ही विरुद्ध था। विशेष करके सरकार और प्रशासन के भ्रष्टाचार के।

प्रिय प्रधानमत्री, सरकार ठप्प करने की कोई योजना नही थी, थी तो आपकी अपील पर सर्वोच्च न्यायालय का फैसला आने तक के लिए, एक साधारण निरीह और अल्पकालिक सत्याग्रह की योजना थी। कुछ चुने हुए लोग आपके मकान के सामने या नजदीक मे इस माग के समर्थन मे सत्या-

ग्रह करते कि आप अपनी अपील पर सर्वोच्च न्यायालय का फैसला आने तक के लिए प्रधानमंत्री का पद छोड़ दें, इसमें विध्वंसक या खतरनाक कोई भी चीज़ मुझे नहीं दिखाई देती।…लोकतंत्र में नागरिक को यह दीखने पर कि सुनवाई या सुधार के सब रास्ते बन्द हो गए हैं, सिविल नाफरमानी का जन्मसिद्ध अधिकार रहता है।…

और अखबारों की आज़ादी का क्यों दमन किया गया है? इसलिए नहीं कि भारतीय अखबार गैरज़िम्मेदार, बेईमान या सरकार-विरोधी थे; वास्तव में आज़ादी मिली रहने पर अखबारों ने जितनी ज़िम्मेदारी, ईमानदारी और न्याय का परिचय भारत में दिया है, उतना कहीं और नहीं मिला; असलियत यह है कि उनके खिलाफ आपका गुस्सा, आपके त्यागपत्र के सवाल पर पैदा हुआ था। क्योंकि उच्च न्यायालय के फैसले के बाद कुछ अखबारों ने जो लिखा था, वह आपको बिलकुल बर्दाश्त नहीं हुआ।

ऐसा छपा है कि आपने कहा कि लोकतंत्र राष्ट्र से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। श्रीमती प्रधानमंत्री, क्या आप अपनेको बहुत बड़ा नहीं समझ रही हैं जो ऐसा कहती हैं? राष्ट्र की चिन्ता करने वाला व्यक्ति एक आप ही नहीं हैं। जिन्हें आपने नज़रबन्द या गिरफ्तार किया है, उनमें से अनेक हैं, जिन्होंने राष्ट्र के लिए आपके मुकाबले कहीं ज़्यादा कुछ किया है। और उनमें से हर एक आप ही की तरह देशभक्त है। इसलिए कृपा करके हमें राष्ट्र के सम्बन्ध में उपदेश देकर हमारे ज़ख्मों पर नमक न छिड़किए।

यही नहीं, आपके इस विकल्प की धारणा ही गलत है। लोकतंत्र और राष्ट्र के बीच में एक ही चीज़ चुनी जा सकती है, ऐसा नहीं है। यह राष्ट्र के हित के लिए ही था कि भारतीय जनता ने अपनी संविधान-सभा में २६ नवम्बर, १९४९ को घोषित किया था कि हम भारत के जन भारत को एक प्रभुसत्तासम्पन्न लोकतंत्रीय गणराज्य बनाने का दृढ़ निश्चय करके अपने को यह संविधान देते हैं।

मैंने यह सब साफ-साफ बिना कुछ छिपाए लिखा है, ऐसा न तो मैंने गुस्से में किया है, न आपसे बहस में पार पाने के लिए। मैंने तो आपके सामने उस नग्न सत्य को रख दिया है जिसको आप ढकने या तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश करती हैं।

यह अप्रिय कर्तव्य कर चुकने पर चलते-चलते दो शब्द सलाह के भी

कहना चाहता हूं। आप जानती हैं कि मैं वृद्ध हो चुका हूं। अपने जीवन में मुझे जो करना था, कर चुका। और प्रभा के गुजर जाने के बाद अब न मेरा कुछ है, और न मुझे किसी व्यक्ति के लिए जीते रहने की इच्छा ही है। मैंने विद्यालय से निकलने के बाद अपना सारा जीवन देश को ही दिया है और बदले में कुछ मांगा नहीं। इसलिए मैं आपके राज में एक कैदी की हैसियत से मर कर भी सन्तुष्ट रहूंगा।

क्या आप मेरे जैसे एक व्यक्ति की सलाह मानेंगी ? मेहरबानी करके उस नींव को मत उजाड़िए, जिसे आपके महान पिता सहित अन्य राष्ट्र-निर्माताओं ने डाला है। आपने जो रास्ता पकड़ा है उसपर चलकर सिवाय कलह और क्लेश के कुछ हासिल न होगा…वह जनता, जिसने ब्रितानी साम्राज्यवाद से मोर्चा लिया, और उसे नीचा दिखाया, सर्वसत्ता की ग्लानि और कुत्सा हमेशा-हमेशा बर्दाश्त नहीं करती रहेगी।

आपने देश में भटकाव की बात की है, पर क्या उसकी वजह विरोधी दल या मैं था ? भटकाव की वजह थी निर्णय, दिशा और प्रयत्न का अभाव। आप उसी वक्त स्फूर्ति और मुस्तैदी दिखाती हैं, जब आपकी निजी हैसियत पर कोई आंच आ रही आपको दीखती है। एक बार उधर से निश्चिन्त हो जाने पर फिर भटकाव शुरू हो जाता है।

प्रिय इन्दिराजी, कृपया अपने को राष्ट्र न समझने लगिए। आप अमर नहीं हैं, भारत है। आपने प्रतिपक्ष पर और मुझपर हर तरह की दुष्टता का अभियोग लगाया है, पर मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूं कि यदि आप सही काम करें, उदाहरण के लिए अपने २० सूत्री कार्यक्रम चलाएं, मन्त्रिस्तर पर भ्रष्टाचार मिटाएं, चुनाव-सम्बन्धी सुधार करें, प्रतिपक्ष को विश्वासपात्र बनाएं और उसकी सलाह सुनें तो आपको हममें से हर एक का हार्दिक सहयोग मिलेगा। इसके लिए आपको लोकतंत्र को ध्वस्त करने की जरूरत नहीं है। अगला कदम आपके हाथ में है और आप ही को फैसला करना है। इन शब्दों के साथ मैं आपसे विदा लेता हूं। ईश्वर आपकी रक्षा करे !

—जयप्रकाश

लोकनायक का यह पत्र ऐसा सच था, जिसे एक बार पढ़कर प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी दूसरी बार उसका सामना नहीं कर सकी होंगी। और चूंकि सामना नहीं कर सकी होंगी, अत. उत्तर देने का साहस ही कहां से आता ?

पर इन्दिराजी को, उनके हर कदम पर उनके चापलूस साथी तथा समाचारपत्र बतलाते रहे थे कि वे अपार संयमी, धैर्यशील और साहसी हैं और ये संयम, धैर्य व साहस—सारे गुण आपातकाल में खूब दीख रहे थे।

यों इस साहस के कई नमूने आपातकाल से पूर्व भी सामने आने लगे थे। अपने विरोधी को सह न पाने पर वे जिस लोकतांत्रिक पद्धति (?) के धैर्य का प्रदर्शन करती रही थीं, उसका वर्णन प्रशस्ति-भाव से अब्बास ने अपनी पुस्तक में किया है—"थोड़े ही दिनों में उन्होंने अपनी इच्छाशक्ति और दृढ़ संकल्प से बता दिया है कि वे क्या हैं। उन्होंने उन धुरंधरों को धकेलकर बाहर कर दिया। कइयों को तो उन्होंने विभिन्न कारणों से जेल के दरवाज़े भी दिखा दिए। कई लोगों को उन्होंने कम महत्त्व की जगहों पर बिठा दिया, जैसेकि किसी मामूली।से राज्य का राज्यपाल बनाना।"[1]

जो लोग इससे पूर्व इस तरह की बातें करते रहे थे कि इन्दिराजी घोर प्रजातांत्रिक हैं, उनके पास अब्बास के उपर्युक्त कथन का क्या उत्तर है? क्या लोकतांत्रिकता यही होती है कि सत्य से कतराया जाए? या जय बाबू के पत्र में लिखे अनुसार आप जितना असत्य बोलतीं और तथ्यों की तोड़-मरोड़ करती हैं वह सब जानबूझकर करती हैं, लोकतांत्रिक है, ?या लोकतांत्रिकता यह है कि कइयों को विभिन्न कारणों से जेल के दरवाजे दिखा दिए जाएं? क्या यह भी लोकतांत्रिकता ही है कि गलत लोगों के प्रति राजनीतिक ममत्व दिखाया जाए?

भिवानी (हरियाणा) से बंसीलाल को चुनाव में हराकर विजई हुई श्रीमती चन्द्रावती ने 'दिनमान' के महेश्वरदयालु गंगवार को बतलाया था[2], "चन्द्रावती जब हरियाणा में ही चौधरी बंसीलाल के मंत्रिमंडल में उपमंत्री थीं, तब रिवासा कांड हुआ। इसमें मुख्यमंत्री बंसीलाल का पुत्र था। किन्तु बंसीलाल के पुत्र की रक्षा के लिए पुलिस ने जो अमानवीय आचरण किया, उसे लेकर चन्द्रावती ने खुला विद्रोह कर दिया। यही नहीं, उन्होंने इस सिलसिले में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी से भी भेंट की और उन्हें सत्य से अवगत कराया, किन्तु चन्द्रावतीजी कहती हैं—'प्रधानमंत्री ने मेरी बात तो सुनी, किन्तु उसपर कोई ध्यान नहीं दिया।"

---

१. इन्दिरा गांधी : सफलता के दस वर्ष, पृ० १८३
२. दिनमान, ३-९ अप्रैल, १९७७

ये राजनीतिक ममत्व भी क्या लोकतंत्र की परम्परा थी ? राजनीतिक ममता के बहुत-से उदाहरण हैं और इसी पुस्तक मे किसी अन्य जगह आएंगे, किंतु यहा बात करता हू उस व्यक्तित्व की, जिसे बहुत-से लोग आज भी यों कहकर उथले ढग से टाल जाते है, कि श्रीमती गाधी का दोष नही था। दोष था उन लोगो का, जो चाटुकार भाव से उन्हें बरगलाते रहते थे या उन्हे अंधेरे में रखते थे या उनकी आड मे ज्यादतिया करके उन्हे नीचा दिखा रहे थे।

यदि ऐसे लोगों के उपर्युक्त तर्क सही है, तब मैं ही क्या, कोई भी यह बात नही मानेगा कि वह व्यक्ति जो 'बरगलाने मे' आ जाता हो, वह व्यक्ति जिसे चाटुकार प्रभावित कर लेते हों, वह व्यक्ति,.जिसे अपनी छाह तले क्या कुछ हो रहा है, इसकी जानकारी ही न हो—निस्सदेह रूप से उसे उस सर्वोच्च शक्ति का मालिक नही होना चाहिए, जो लोकतत्र मे करोडों आदमियों का विश्वास पाकर मिल जाती है। यदि यह सब था तब भी दोषी श्रीमती गाधी ही ठहरती हैं।

किन्तु मैं नही मानता कि श्रीमती गाधी गैर जानकार थी। बल्कि मैं यह मानता हूं—श्रीमती गांधी समझ चुकी थी कि सविधान को निरतर कमज़ोर करते जाने से एक दिन ऐसी सार्वभौम सत्ता उनके (काग्रेस के नही) हाथ आ चुकेगी, जब वे सुविधा के साथ दमन-चक्र चलाकर करोडो आवाज़ो को एकदम चुप कर देंगी। और वह सब आपातकाल मे शुरू हो चुका था। सम्पूर्ण शक्ति के साथ। जिन विशिष्ट व्यक्तियो की 'एकदम निजी समिति' मे इस कदम को जनतात्रिक ठहराते हुए आगे ले जाने का राजनीतिक दांव खेला गया होगा—उनकी भी प्रसशा की जानी चाहिए। सम्पूर्ण योजना को उन्होंने बड़े सलीके से प्रारभ किया। श्रीमती गाधी और उनके विश्वस्त साथी यह अच्छी तरह जानते थे कि इस देश के उस सामान्य जन को, जो एक-दो नारो से ही सब्ज़बागो मे घूमने लगता है, बडी सुविधा के साथ कुछ दिखाकर भटकाया जा सकता है और उस भटकाव के दौरान उसकी चेतनहीनता का लाभ उठाते हुए कहीं ज्यादा सुविधा के साथ उसे गूगा भी बनाया जा सकता है।

इसी योजनान्तर्गत बड़े पैमाने पर प्रचार-तत्र सक्रिय हुआ। मीटिंगें ली जानें लगी। टेलिविज़न पर विशेष कार्यक्रम तैयार होने लगे। रेडियो खास किस्म के गीत गुनगुनाने लगा और जगह-जगह बैनर लगे नज़र आने लगे। गावों से लेकर हर सरकारी और निजी कार्यालय मे पोस्टरो की बाढ दीखने लगी। लगता था कि हिन्दुस्तान एक नई किस्म के चुनाव-प्रचार मे जीने लगा

है। ऐसा शक्तिशाली प्रचार, जिसे किसी भी चुनाव में नहीं देखा गया था। सारे देश में 'अपने लोगों के अपने लोग' और उनके 'अपने लोग' छोटी-छोटी मीटिंगें करके प्रस्ताव पास करने लगे—'हम श्रीमती गांधी के महान क्रांतिकारी कार्यक्रम के साथ हैं और आपातकाल का स्वागत करते हैं!'

लगभग हर शहर से समाचार-पत्रों में यह स्वागत नज़र आने लगा। ऐसे ही जैसे झूमरी तलैया से फरमायश की जाती है। क्या यह कम हास्यास्पद स्थिति है कि किसी देश में आपातकालीन स्थिति का स्वागत किया जाए?

प्रचार-तंत्र चलता रहा। इस तरह कि इस तंत्र के दौर में कहां क्या हो रहा है, लोगों को ठीक तरह मालूम ही नहीं हो सका। अचानक खबरें बरसनी शुरू हुईं। सनसनीखेज़ और रोमांचक। ये खबरें थीं—हाजी मस्तान, वखिया, यूसुफ पटेल आदि तस्करों की गिरफ्तारियों की। देश गद्‌गद हो गया। इसे कहते हैं क्रांतिकारी काम। सारे गलत लोग बन्द कर दिए गए हैं। पर इस गलत को सही करने की आड़ में निजी स्वार्थ की कितनी खिचड़ी पकती रही, लोगों को मालूम ही नहीं हो पा रहा था। ये खबरें जनता तक पहुंचा रहे थे वे लोग, जो भूमिगत हो चुके थे। भूमिगत आंदोलन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और कुछ लोगों ने कितना काम किया, इसका वर्णन किसी और जगह करूंगा।

गलत को सही किए जाने का ही नाम 'आपातकाल' है। इस प्रचार के अन्तर्गत जो काम दिखाया गया, वह था नाजायज़ कब्ज़े हटाना, परिवार नियोजन कार्यक्रम को सख्ती से लागू करना, मुनाफाखोरी बन्द करना और कृषि-सुधार कार्यक्रम को तेज़ करना...इस सबसे गरीबी हटनेवाली थी, अमन-चैन आने वाला था और देश आगे बढ़ने वाला था।

सचमुच उस समय लोगों को यही लगा था। यह तो कुछ दिनों बाद मालूम हुआ कि इस सारे दौर का मतलब है—तानाशाही!...हिटलर और मुसोलिनी के बारे में बहुत सुना था इस देश ने, पढ़ा भी था...पर अनुभव हुआ उस दौर में, कहते हैं जिसे विनोबा बाबा ने कहा—'अनुशासन-पर्व'।

'अनुशासन-पर्व' या 'दुःशासन-पर्व'?

बसों, स्कूटरों, ट्रेनों, सरकारी आफिसों और नेशनल हाईवे पर सारे देश में बिखरे पड़े होटलों और सरायों में बीस सूत्री कार्यक्रम के इश्तहार लगे हुए

थे। कही कागज की शक्ल मे, कही वार्निश से लिखे हुए और कही गेरू या खड़िया से अंकित। ये सूत्र श्रीमती गांधी ने दिए थे और सारे देश मे इस तरह लागू किए जा रहे थे।

आपातकाल से पहले लागू क्यो नही किए जा सके ? एक प्रश्न दिमाग में कौंधता। पर इमर्जेंसी का नियम था कि सवाल दिमाग मे ही कौंधता, बुझता, झुलखाता रहना चाहिए, इसलिए सवाल सिर्फ कौंधता ही रहा।

पर यह सवाल सिर्फ सामान्य व्यक्ति के दिमाग मे कौंधा हो, ऐसा नही है। उनके दिमाग मे भी कौंधता था, जो ये सूत्र लागू करने चले थे, जिन्होंने बोर्ड बनवाए थे, बैनर लगवाए थे, नारे लिखवाए थे। कारण था, अपनी ही अन्तरात्मा की ताडना। और खुद ही यहा-वहा सफाई देते घूमते कि ये सूत्र थे तो पहले ही, पर सविधान गलत था और देश गलत लोगो के बहुमत के हाथो मे था, अत लागू नही किए जा सके थे। पर आज देश 'सही के हाथ' मे आ गया था और सविधान सही किया जा रहा था, बचा-खुचा और किया जाना था अतः अब ये सूत्र लागू हो रहे थे।

अचानक पता लगा कि आसमान मे एक सितारा और था, जिसका नाम इससे पहले दुनिया वालो को मालूम नही था। ठीक उसी टोन मे, जिस तरह 'नेपच्यून' नाम का सितारा आकाश में है, यह किसी वैज्ञानिक ने काफी देर बाद पता लगाया था। मगर हिन्दुस्तान के इस राजनीतिक सितारे का पता किसी विशेष वैज्ञानिक ने लगाया या खुदबखुद सितारा ही चीखने लगा कि 'देखो रे भाई, मैं सितारा हूं, मुझे देखो'—मालूम नही। इतना सच है कि सितारा उग आया था। नाम भी पता लगा था जनता को—सजय गाधी !

अब इस 'अनुशासन पर्व' मे अनुशासित ढग से सितारे के गुणो की परख शुरू हुई। परख कर रहे थे राज्यों के मुख्यमत्री; यथा, सर्वश्री श्यामाचरण (चारण) शुक्ल (मध्यप्रदेश), नारायणदत्त तिवारी (उत्तरप्रदेश), ज्ञानी जैल (जेल) सिह (पजाब) आदि। इन राजनीतिक-वैज्ञानिकों के प्रधान थे—देवकान्त बरुआ, कांग्रेस के अध्यक्ष।

परख मे बहुत-सी बातें पता लगी थी देश को। यह कि सजय गाधी युवा नेता हैं। यह कि सजय गांधी क्रातदर्शी हैं। यह कि संजय गाधी (इलस्ट्रेटेड वीकली के अनुसार) 'मैन आफ द इयर' हैं। यह कि सजय गाधी मे अपूर्व संगठन-शक्ति है और यह कि सजय गाधी श्रीमती गाधी के अनुसार कांग्रेस की मदद के लिए आए हैं…और मोहम्मद यूनुस फरमा रहे थे कि संजय गाधी

इसलिए राजनीति में आए हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि विरोधियों ने उनपर आरोप लगा-लगाकर उन्हें बुरी तरह तंग कर डाला था और इस कारण उनकी माताजी श्रीमती गांधी को बार-बार जवाब देना पड़ता था ![1]

तो इस तरह आए भारतीय राजनीति में नये नक्षत्र। और जब नक्षत्र आए तो अपने साथ कुछ चकाचौंध लाना भी ज़रूरी था। वे ले आए—चार सूत्र। और ये चार सूत्र भी बीस के साथ दौड़ लगाने लगे। कभी बीस आगे, कभी चार आगे, कभी चार आगे, कभी बीस आगे···

तो इस तरह भारत के आपातकाल की राजनीतिक आकाशगंगा शुरू हुई। होते-होते यह होने लगा कि हर सुबह अखबार उठाओ तो एक ओर संजय गांधी का 'तेजस्वी' चित्र देखो और 'ओजस्वी' भाषण पढ़ो और दूसरी ओर देखो कि श्रीमती गांधी ने देश को क्या सन्देश दिया है या 'असामाजिक तत्त्वों' के बारे में जनता को क्या बतलाया है। बीच का इण्ट्रो लगा होता श्री देवकांत बरुआ का जो कह रहे थे कि 'इन्दिरा इज़ इण्डिया एण्ड इण्डिया इज़ इन्दिरा' (इन्दिरा भारत है और भारत इन्दिरा है)। यह होतीं पैंसठ करोड़ आदमियों के बहुभाषा-भाषी देश और देशवासियों की खबरें। राज्यों से समाचार यह थे कि ज़िला बिलासपुर में नसबन्दी अभियान ज़ोरों पर हैं या लखनऊ में बीस सूत्री कार्यक्रम से क्रांति हो गई है।

टेलिविज़न का बटन ऑन कीजिए। म्यूज़िक पर एक भड़ाके के साथ आवाज निकल रही होती है—'दो पर सब्र करो, देश का संकट हरो।' यह था देश का आपातकाल !··

पर नहीं, देश का आपातकाल तो वह था जो न अखबारों में था, और न देखने की इजाज़त थी···आपातकाल था तुर्कमान गेट पर ! आपातकाल था उन झुग्गियों पर, जिनमें दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, नागपुर, और ऐसे ही महा-नगरों में करोड़ों लोग सिर्फ जी पाने के लिए संघर्ष कर रहे थे···या जेलों में दमन सह रहे निरपराध दम तोड़ रहे थे···

वह था आपातकाल ! और वही था विनोबाजी का अनुशासन-पर्व ! और वही था देश का लोकतंत्र, जिसे इन्दिराजी ने कृपापूर्वक दिया था और वही था सत्य-अहिंसा से लदी-बदी कांग्रेस का धर्म, जिसके तहत देश जैसे-तैसे जी रहा था।

---

१. ब्लिट्ज़ (अंग्रेज़ी) में मोहम्मद यूनुस का लेख, पृ० ८

प्रेस सेंसरशिप एक ऐसा हथियार था, जिसने उन्नीस माहों तक सब का गला बुरी तरह दबाए रखा। यही कारण था कि आपातकाल के दौरान घटी घटनाएं, जिनमें बहुत-से बेगुनाहों की *हत्याओं और अन्धे कानून से प्राप्त सत्ता* के कारण सैकड़ों बरबादियों के किस्से थे, लोगों तक नहीं पहुंच सके। दूसरी आज़ादी के तुरंत बाद ये किस्से सामने आने शुरू हुए, कुछेक उन लोगों की गरदनों के भीतर ही घुटे रह गए थे, जो दमन के कारण गलत प्रशासकों और पुलिस के क्रूर अत्याचार के पंजों में फंसी हुई थी।

२२ जून, १९७६ को बुलडोजरों का एक काफिला गुड़गांव रोड पर देखा गया। काफिले के लोग बड़े उत्साहपूर्वक चले जा रहे थे। थोड़ी ही देर बाद ये बुलडोजर मारुति कम्पनी के रास्ते की ओर बसे सभालखा गांव में जा पहुंचे। *यह छोटा-सा गरीब गांव धीमे-धीमे श्रम की शक्ति पर प्रगति कर रहा था* और प्रगति के दौर में उसकी अर्धविकसित स्थिति के कारण पचीसों घर और दुकानें कुछ कच्चे और कुछ पक्के थे। बुलडोजरों का उत्साही काफिला देखने के लिए उत्सुक ग्रामीण स्त्री-पुरुष और बच्चे बाहर आ गए थे। दैत्याकार बुलडोजरों के भीमगर्जन ने भी उन्हें चौंकाया और विस्मित किया था, पर उन्हें नहीं मालूम था कि थोड़ी ही देर बाद उनका विस्मय करुण रुदन में बदल जाएगा। कुछ लोग, जिनमें अधिकारी और साधारण कर्मचारी थे, वाहनों से उतरे और रौबीली चाल में यहां-वहां पहुंचकर इलाके का निरीक्षण करने लगे। *ग्रामीण हैरानी से उन्हें देख रहे थे कि वे वहां क्या कुछ करने वाले हैं।* मुख्य मार्ग में सभालखा गांव की ओर दृष्टिपात करते हुए अधिकारियों ने अपना कार्यक्षेत्र निश्चित किया। थोड़ी ही देर में आदेश हुए कि मारुति कम्पनी की ओर रास्ते में पड़ने वाला सारा इलाका, जिसपर फसलें और कहीं-कहीं ट्यूब वेल भी लगे थे, साफ कर दिया जाए।

ग्रामीणों ने हक्के-बक्के रहकर आदेश सुना और उसके तुरत बाद कातर स्वर में अधिकारियों से प्रार्थना की कि आखिर कारण क्या है? उनकी फसलें और खेत किसलिए तबाह किए जा रहे हैं?

ग्रामीण चीखते रहे और बात की बात में बुलडोजरों ने हरी-भरी फसलों वाले खेत तबाह करके समतल धरती बना डाली। स्त्रियां-पुरुष रोते-चीखते रहे, किन्तु कोई सुननेवाला नहीं था। यही नहीं, बुलडोजरों ने बहुत-सी कच्ची-*पक्की दुकानों और मकानों को धराशायी कर दिया।* एक मकान में पुलिसमैन की विधवा विमलादेवी अपने छोटे-छोटे पांच बच्चों के साथ दिन काट

वह बच्चों को लिए हुए चीखती-गिड़गिड़ाती रही कि उसके घर को न तोड़ा जाए किन्तु वे सब उच्चस्तरीय आदेशों से बहरे बने हुए थे। यह मकान विमलादेवी ने कर्जा लेकर बनवाया था। किसानों ने ट्यूबवेल भी कर्ज़ पर लगवाए हुए थे, पर अब सब कुछ व्यर्थ हो चुका था। सरकारी सूचना दी गई कि अब यहां 'ट्रांसपोर्ट नगर' बनेगा।

क्यों ?

इसका कोई उत्तर नहीं था, सिवाय इसके कि 'ऊपर से हुक्म' हुआ है। बुलडोजरों से सफाई करने का आदेश तत्कालीन निगमायुक्त बहादुरराम टमटा ने दिया था और 'नवभारत टाइम्स' के अनुसार टमटाजी को यह हुक्म श्री संजय गांधी ने दिया था। और श्री संजय गांधी के दिमाग से यह हुक्म क्यों निकला था ? इसका पता 'नवभारत टाइम्स' के संवाददाता ने यह लगाया कि मारुति कम्पनी की ओर जाते हुए संजयजी को इस अर्ध-विकसित ग्राम की कुरूपता नहीं रुचती थी और उनका 'मूड' खराब हो जाता था, अतः उन्होंने निश्चय किया कि सौन्दर्य के लिए गांव को ही मिटा दिया जाए।

उस धरती पर ७० दुकानें बन रहीं हैं। करीनेदार और खूबसूरत। कहते हैं कि ये दुकानें युवक कांग्रेस के कार्यकर्ताओं के लिए बनाई जा रहीं थीं।

पुलिसमैन की लाचार विधवा श्रीमती विमला आज भी अपने पांच बच्चों को ज्यों-त्यों करके एक झुग्गी में पाल रही है। ग्रामीण अपनी समतल की गई १३० बीघा धरती देखकर आठ-आठ आंसू रोते रहते हैं। ट्यूबवेल खामोश पड़े हैं।

दूसरा सुधार (?) बुलडोजरों ने दिल्ली के कश्मीरी गेट क्षेत्र में किया। इस जगह गत २६ वर्षों से एक पुराना विद्यालय 'विद्या भवन' स्कूल चल रहा था। इस स्कूल में ३० से अधिक कर्मचारी थे और सात सौ से अधिक बच्चे शिक्षा पाते थे। अचानक २६ अप्रैल, १९७६ को इस विद्यालय के प्रबन्धक श्री गर्ग ने (जो जनसंघ सीट पर निगम पार्षद भी रह चुके थे) देखा कि २०० पुलिसमैनों ने स्कूल की इमारत को घेर लिया है। उनके साथ सेना का एक बुलडोजर भी था। कारण कुछ भी न बतलाते हुए अध्यापकों से कहा गया कि वे स्कूल के बाहर आ जाएं। अध्यापक बहुत गिड़गिड़ाए, प्रार्थना की कि यह उनकी रोजी ही नहीं है, बल्कि शिक्षा-दान का मन्दिर भी है। एक तरह से

---

1. नवभारत टाइम्स (दिल्ली संस्करण), १६ अप्रैल, १९७७

तीर्थ ही है, पर कोई बात न सुनी गई। थोड़ी ही देर में सरकारी सेवक स्कूल के भीतर-बाहर समा गए। फर्नीचर, पंखे और सारा सामान तोड़-फोड डाला गया। बुलडोजर ने दैत्यगर्जना की और स्कूल की इमारत के २५ कमरे धराशायी कर डाले। पढनेवाले बच्चो का भविष्य क्या हुआ होगा ? और वे अध्यापक तथा अन्य कर्मचारी, जिनकी स्कूल के कारण रोजी चलती थी, कहते हैं कि आज तक भटक रहे हैं। गत दिनो स्कूल के व्यवस्थापक श्री गर्ग ने समाचारपत्रो के सवाददाताओं से अपनी यह दुखगाथा सुनाई तब उनकी आंखें छलछला आई थी। उनका कहना था कि उन्हें मिली सूचना के अनुसार यह सारी कारंवाई श्री सजय गाधी के हुक्म पर हुई थी। पर क्यो हुई थी, इसका कारण उनकी समझ मे नही आ रहा था।

मुझे लगता है कि न समझ पाने का कारण नही होना चाहिए। क्या कारणहीन व्यवस्था को समझ लेना ही काफी नही है ?

१६ अप्रैल, १६७६ को तुर्कमान गेट पर जो भयानक गोलीकाड हुआ, और उसमे जिस तरह निरीह स्त्री-पुरुषो और बच्चों की जानें गई, उसका स्मरण-भर रोंगटे खड़े कर देने वाला है। तत्कालीन गृह उपमत्री श्री मोहसिन ने इस घटना के बारे मे बतलाया था कि तुर्कमान गेट की घटनाओं और गोलीकाड का कारण प्रतिबन्धित सस्थाए थी। उन्होंने कहा था कि वहां जो कुछ शासकीय कार्य चल रहा था, वह पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार था और उस कार्य मे जब 'असामाजिक तत्त्वो' ने (श्री मोहसिन के अनुसार) गडबड़ी फैलाई और हिंसात्मक हरकतें की, तब लाचार होकर पुलिस को कारंवाई करनी पडी।

क्या था पूर्वनिश्चित शासकीय कार्यक्रम ? विवरण देता हू। इस सघन इलाके मे रहनेवालों की दशा सुधारने के लिए सन् १६३० मे महात्मा गाधी ने और बाद मे श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस क्षेत्र के लिए पुनर्निर्माण योजना बनवाई थी। इस योजना को नाम दिया गया था—'दिल्ली गेट, अजमेरी गेट स्कीम' बाद मे सन् १६६२ मे मास्टर प्लान बना और इस क्षेत्र के विकास का विशेष प्रावधान हुआ। इस प्लान के तहत धीमे-धीमे कार्य चल रहा था। अनेक परिवारों को पुनर्वास-सुविधाए भी दी जा रही थी, किन्तु आपातकाल के दौरान एकदम सब कुछ सुधारने के लिए रात मे सूरज उगाने का वह आश्चर्यजनक चमत्कार किया गया कि कई लोगों ने अपनी जान से हाथ धोए और सैकड़ों परिवार बेघरबार हो गए।

श्री मोहसिन के अनुसार लोगों की भलाई का यह महान कार्यक्रम जब चला तो १३ अप्रैल, से १८ अप्रैल, १९७६ तक कई परिवारों को जहां-तहां रहने-सहने की सुविधाएं देते हुए वहां से हटाया गया किन्तु १९ अप्रैल को 'असामाजिक तत्त्वों' द्वारा गड़बड़ी किए जाने के कारण गोली चली और ६ व्यक्ति मारे गए तथा कुछ घायल हुए। (और जो गायब हो गए ?)

श्री संजय गांधी और बेगम रुखसाना सुलताना (जो अपने को संजयजी की निजी सचिव कहती थी) ने भी इस इलाके का दौरा किया। कहा जाता है कि श्री गांधी ने उन तक गुहार करनेवाले लोगों को आश्वासन भी दिया कि उनके मकान नहीं टूटेंगे, किन्तु कार्रवाई चलती रही। बुलडोजरों के शोर से इलाका थरथराता रहा और मकान अर्राकर धरती पर बिछते रहे। परिणाम हुआ महिलाओं और पुरुषों का लाचार और शान्त आन्दोलन। उन्होंने बुलडोजरों के आगे लेटकर चीखना-पुकारना शुरू किया कि यदि उन्हें इसी तरह उजाड़ना है तो वे नहीं जीना चाहते।

बतलाया जाता है कि पुनर्वास के नाम पर बहुत-से परिवारों को दिल्ली के दूर कोने-कोतरों में पहुंचाया जा रहा था। इस व्यवस्था में एक ही परिवार के विभिन्न लोगों को जब भिन्न-भिन्न जगह रखा जाने लगा, तब उन्होंने मांग की कि उन्हें एक जगह रखा जाए। यह भी कि उन्हें शहर से इतनी दूर क्यों काटा जा रहा है ? पर जब सुनवाई नहीं हुई तब वे धरना देने लगे।

नाराज अधिकारियों ने हुक्म दिया कि यदि ये लोग नहीं मानते तो इनके ऊपर से बुलडोजर निकाल दिए जाएं, पर काम न रोका जाए ! श्री मोहसिन ने कहा था कि झगड़े की शुरुआत 'असामाजिक तत्त्वों' ने की, पर उसी इलाके की महिला फात्मा बेगम के उस तर्क का जवाब मोहसिन के पास क्या है कि औरतें अपने छोटे-छोटे बच्चों को लेकर के बुलडोजरों के सामने लेट गई थीं। क्या ये बच्चे झगड़ा करने पहुंचे थे ? वे स्त्रियां और बच्चे असामाजिक तत्त्व थे, जिनसे प्रशासनिक व्यवस्था को खतरा था ?

दोपहर दो बजे पुलिस सक्रिय हुई। स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों को घसीटते, दुत्कारते, पीटते और बाल पकड़कर खींचते हुए यहां-वहां उछाला-पटका जाने लगा। पुलिसवाले घरों में घुस गए और बरतन सामान बाहर फेंक दिया या तोड़फोड़ डाला। बुलडोजरों की संख्या १४ थी। ये बुलडोजर सक्रिय हो चुके थे और अंधाधुंध मकान गिराए जा रहे थे। अनेक स्त्रियों को उनके घरों के भीतर पहुंचकर बालों से घसीटते हुए बाहर लाया गया और

उनके गहने नोच लिए गए। ये गहने कहा गए, इसका अब तक पता नही है। बहुत-सी औरतें बेइज्जत हुई। बिजली-पानी की लाइनें पहले ही काट दी गई थी। उजडे हुए बहुत-से लोग बाहर मैदान मे पडे रो रहे थे। कुछ लोग घबराकर समर्पण कर बैठे कि 'आपकी मरजी ही पूरी करेंगे साहब, पर थोडी मोहलत दीजिए।'

जवाब मिला—'मौत भी कभी मोहलत देती है?' हंसी, व्यंग्य और क्रूर आनंद लेते हुए पुलिस वाले इस सारी स्थिति से मनोरंजन कर रहे थे। अनेक स्त्रियों के कपड़े फट गए थे और वे लगभग नग्न हुई जा रही थी।

अब्दुल रजाक इस सारी आपाधापी मे अपनी बच्चो को बचाने-खोजने के लिए भाग रहा था कि उसी बदहवासी की हालत मे एक गोली आई और उसकी बांह चीर गई। घबराया हुआ अब्दुल लड़खड़ाकर निकलने लगा कि तभी दूसरी गोली ने उसकी कमर को भेद डाला! अब्दुल गिर पड़ा। बाद मे अस्पताल में उसकी जान बच गई। अब्दुल रज़ाक ने अपने गोलियों के घाव, जो अब घिनौनी तानाशाही के स्मरण बनकर निशान रूप मे उसके जिस्म पर मौजूद है, पत्रकारों को दिखलाए।[1]

फारुखा बेगम कहती हैं कि औरतों की बेइज्जती की गई और मरदो को इस बुरी तरह मारा गया कि उसके ही नही, दसियों लोगों के देखते-देखते कई के सिर वही खुल गए। खून से सरोबार लोगो को खीच-खीचकर गाडियों मे डाला गया और न जाने कहां ले जाया गया। यही नही, इन फारुखा बेगम के अनुसार बहुत-सी औरतो को उनके छोटे-छोटे बच्चों के साथ चिलचिलाती धूप मे बिठा दिया गया और पहरा लगा दिया गया। ये पहरे वाले पानी तक नही देते

---

1. "तुर्कमान गेट पर गोली चलने के बाद ४५ दिन का कर्फ्यू लगा दिया गया। औरतो को बेइज्जत किया गया। पुरुषो पर अमानुषिक अत्याचार किए गए। संजय गांधी से कर्फ्यू उठाने की प्रार्थना की गई तो उन्होने जवाब दिया—'इन लोगो को कडा सबक मिलना चाहिए।' मैंने इस सिलसिले मे कई बार तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिराजी से मिलने की कोशिश की, पर मुझे वक्त नही दिया गया। अन्त मे मैंने एक पत्र मे सारे हालात लिखकर उन्हे सूचित किया। नतीजा यह हुआ कि मुझे परिवार नियोजन का विरोधी घोषित कर दिया गया। मैं स्वर्गीय राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद साहब से मिलने पर उन्होंने यही कहा कि वे इस मामले मे लाचार और असहाय हैं।" (श्रीमती सुभद्रा जोशी का पत्र, जो उन्होने कांग्रेस अध्यक्ष श्री डी०के० बरुआ को लिखा)

थे। फारूखा ने गिरफ्तार औरतों की संख्या पचास-साठ बतलाई, और दिल्ली नोमायटी के सम्पादक सईद खां के अनुसार मरनेवाले लगभग २५ हैं।

श्री मोहसिन ने घटना शुरू होने का समय १ बजे बतलाया है। उनका कहना है कि दोपहर १ बजे से 'फजल-ए-इलाही' मस्जिद में नमाज पढ़ने के बाद झगड़ा शुरू हुआ था। नर्सिंग होम की ओर से पथराव हुआ। बाद में पुलिस को लाठी-गोली और अश्रुगैस का सहारा लेना पड़ा। उन्होंने इस सारे कांड में गिरफ्तार व्यक्तियों की संख्या ४५३ बतलाई थी।

बुलडोजरों ने पूरी रात काम किया और कई कच्ची-पक्की इमारतें ध्वस्त कर डालीं। इस दौरान तमाम सामान भी चकनाचूर हो गया। पर हत्याएं? उनमें बच्चों से भी परहेज नहीं बरता गया। इस अमानवीय क्रूरता के परिणाम-स्वरूप जहीरुद्दीन नामक व्यक्ति के दो बच्चे मारे गए। उसके साले की मौत भी हुई, जो सिर्फ २३ वर्ष का था और जिसका विवाह हुए कुल दस महीने हुए थे। जहीरुद्दीन का साला, जहीरुद्दीन के बच्चों को बचाने के लिए दौड़ रहा था।

यह सारा विवरण 'नवभारत टाइम्स' में क्षितीन्द्रमोहन श्रीवास्तव ने लिखा था। इससे कहीं ज्यादा विस्तृत विवरण 'इण्डियन ऐक्सप्रेस' के दिल्ली संस्करण में प्रकाशित हुआ।

'अनुशासन-पर्व' की ये कुछ बानगियां हैं। वे, जो जीना-मरना सिखा रही थीं और जिसके लिए प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने (हाल के चुनाव के दौरान) बिहार में दो दिवसीय दौरे पर एक भाषण में कहा था—"जनता को स्वयं इस बात का फैसला करना होगा कि क्या वे कांग्रेस के मूलभूत सिद्धान्तों व आदर्शों (लोकतंत्र, समाजवाद, और धर्मनिरपेक्षता) को बनाए रखना चाहते हैं, या उनको जो अनुशासनहीनता, दंगा-फसाद और तोड़-फोड़ में विश्वास करते हैं, उनको लाना चाहते हैं? किसी चीज को बिगाड़ना तो बहुत आसान होता है, लेकिन बनाना बहुत मुश्किल होता है।"

तुर्कमान गेट पर जो कुछ हुआ क्या वह बनाया जा रहा था? वह, जो विद्याभवन स्कूल में घटा, निर्माण था? और वह जो संजयजी का मूड बरकरार रखने के लिए गुड़गांव रोड के उस छोटे-से गांव में घटा—निर्माण था?

६ दिसम्बर, १९७५ को हिन्दू ऐज्युकेशन सोसायटी द्वारा संचालित तीन स्कूलों में जो घटना घटी, क्या वह भी देश की प्रगति के लिए था? सोसायटी द्वारा

संचालित उक्त तीनों स्कूलों के सैकड़ों बच्चों और शिक्षकों को पुलिस के ज़बर-दस्त हमले ने अकचका दिया था। उस दिन अचानक ही तीनों स्कूलों में पुलिस घुस पड़ी और पढ़ते हुए बच्चों को खींच-खींचकर बाहर निकाल दिया गया था। सोसायटी के पदाधिकारी मांगेराम शर्मा के अनुसार कई बच्चों को पुलिस ने बुरी तरह पीटा तथा शिक्षकों को गिरफ्तार कर लिया। लगभग सवा सौ अध्यापक बेकार कर दिए गए और बच्चों की शिक्षा अस्त-व्यस्त कर डाली गई। बहुत खोज के बाद कारण सुना गया था कि इस सोसायटी के अध्यक्ष चूंकि भूतपूर्व महापौर लाला हंसराज गुप्त हैं, अतः इसे यह दमन सहना पड़ा है। किन्तु लालाजी से कांग्रेस की तानाशाही को क्या शिकायत है, यह मालूम नहीं हो सका।

आपातकाल के नाम पर देश की प्रगति का जो ढोंग प्रचारित किया जा रहा था, क्या वह सब यही था? अपने विरोधी विचारवालों को तहस-नहस कर डालने के अंधे तानाशाही ख्याल में यह भी नहीं सोचा गया कि एक स्कूल से हज़ारों परिवारों का भविष्य जुड़ा रहता है। उन परिवारों से देश का भविष्य जुड़ा रहता है और चूंकि यह देश है इसलिए कांग्रेस या किसी भी दल का अस्तित्व है।

श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने एक सार्वजनिक सभा में राजनीतिक बंदियों के साथ हुए आपातकाल के अशिष्ट व्यवहार का उदाहरण देते हुए बतलाया था कि ग्वालियर की राजमाता विजयाराजे सिन्धिया के साथ क्या बर्ताव हुआ। श्री वाजपेयी के उक्त भाषण के कुछ अंश यहां प्रस्तुत कर रहा हूं—
"भारतीय जनसंघ में शामिल होने के कारण तथा श्री जयप्रकाश नारायण के समग्र क्रांति के संघर्ष में भाग लेने के कारण राजमाता श्रीमती विजयाराजे सिन्धिया को महल से निकलकर जेल में जाना पड़ा। और जेल में उनके साथ क्या व्यवहार किया गया, सुनेंगे तो रोंगटे खड़े हो जाएंगे। राजनीतिक पुरुष बंदियों के लिए पृथक वार्ड होता है, किन्तु राजनीतिक महिलाओं के लिए कोई पृथक् वार्ड नहीं है। चोरी, जेबकतरी, हत्या और वेश्यावृत्ति के अपराध में पकड़ी गई औरतों के साथ उन्हें महीनों जेल में रखा गया।"[1]

श्री वाजपेयी ने बतलाया था कि वे तिहाड़ जेल (दिल्ली) कई बार गए और उनकी कोठरी के सामने से गुज़रे। श्री वाजपेयी ने वहां की स्थिति का

१. दैनिक युगधर्म (नागपुर), १३ मार्च, १९७७

वर्णन करते हुए कहा कि जहां राजमाता रखी गई थीं, उसके सामने सुअरों का वाड़ा था। चौबीसों घंटे इतनी गंदगी रहती थी कि नाक पर बिना कपड़ा रखे हुए वहां से गुज़रना तक मुश्किल होता था।

तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले राजनीतिज्ञों की यह दशा थी और ऐसे भी कई उदाहरण हैं, जब ताड़ना-प्रताड़ना देकर अकारण ही निरपराध लोगों को मौत के मुंह में धकेल दिया गया या एक तरह से उनकी हत्या ही कर डाली गई। जॉर्ज फर्नांडिस के एक परिचित परिवार को केवल इसी कारण ज़बरदस्त मरणान्तक कष्ट झेलने पड़े क्योंकि उक्त परिवार के लोग जॉर्ज के मित्र थे। और जॉर्ज तानाशाही के विरुद्ध बगावत का एक नाम था।

बड़ौदा डायनामाइट कांड में जॉर्ज को उलझाया गया। जैसे ही आपातकाल की घोषणा हुई, सभी विरोधी नेताओं की पकड़-धकड़ में जॉर्ज की खोज भी की जाने लगी। जॉर्ज फर्नांडिस अपने मित्रों, शुभचिन्तकों और जन-सहयोग से भूमिगत हो गए। क्योंकि आपातकाल के दमन ने इन्दिरा-शासन को अलोकप्रिय बना दिया था अत: पुलिस सिरतोड़ कोशिश के बावजूद जॉर्ज को नहीं पा रही थी। जैसाकि तानाशाही या सामन्तवाद में हमेशा से होता रहा है, जॉर्ज के शुभचिन्तकों और मित्रों को डराया, धमकाया जाने लगा या उनका दमन प्रारंभ हुआ। इसी सिलसिले में कन्नड़ फिल्म अभिनेत्री स्नेहलता रेड्डी के यहां पुलिसवाले जा पहुंचे। स्नेहलता रेड्डी सोशलिस्ट पार्टी से पुराना सम्बन्ध भी रखती थीं।[1]

स्नेहलता रेड्डी और उसके परिवार पर आपातकाल के प्रारंभ से ही दमन-चक्र प्रारंभ हो चुका था। उनकी बेटी नंदना को अनेक बार पुलिस ने तंग किया और पूछताछ की। नंदना की गतिविधियों पर भी इस तरह नज़र रखी जाने लगी, जैसे नंदना बहुत खतरनाक अपराधी हो। २७ अप्रैल को स्नेहलता रेड्डी और उनके पति श्री पट्टाभिरामा रेड्डी रात के समय बंगलौर से मद्रास गए थे। उनकी अनुपस्थिति में पुलिस घर पहुंची और उनके बेटे कोणार्क को जगाकर पूछा गया कि उसके माता-पिता कहां हैं? जब कोणार्क ने बतलाया कि वे बाहर गए हैं तो पुलिस वाले उसे तंग करते हुए पुलिस थाने

१. स्नेहलता रेड्डी कन्नड़ फिल्म 'संस्कार' में चन्द्रि की अपनी भूमिका के लिए अपूर्व प्रशंसा अर्जित कर चुकी थी। इस फिल्म का निर्माण उनके पति पट्टाभिरामा रेड्डी ने ही किया था।

ले गए और इधर घर पर सारा सामान उलट-पुलट करते हुए व्यर्थ खाना-तलाशी करते रहे। परिवारजनों और यहां तक कि नौकरों को भी बेइन्तिहा तंग किया गया। उधर स्नेहलता और उसके पति बार-बार अपने घर बंगलौर को फोन मिलाकर परिवारजनों से सम्पर्क साधने की चेष्टा कर रहे थे, किन्तु फोन काट दिया गया था। लाचार होकर उन्होंने पड़ोसी के यहां फोन किया, जहां से मालूम हुआ कि कोणार्क को पुलिस ने पकड़ लिया है और उस समय तक छोड़ा नहीं है। घबराए हुए रेड्डी दम्पति कार से बंगलौर आए। पर बंगलौर में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। वे रात-भर कार्लटन हाउस में बैठे रहे। कोणार्क की कोई सूचना उन्हें नहीं दी जा रही थी। बाद में उन्हें अलग-अलग ले जाकर फर्नांडिस के बारे में ऊटपटांग सवालात किए जाने लगे। घबराई हुई विह्वल स्नेहलता ने कह दिया कि 'यह सब कुछ बतला देगी यदि उसके पति और बच्चे को घर जाने दिया जाए।' इसपर पति और बच्चा तो छोड़ दिए गए किन्तु स्नेहलता को मीसा में बन्द कर दिया गया। अब दिन-दिन-भर उसे 'जो मालूम है बतलाने के लिए' दबाव डाला जाने लगा। सच यह था कि वह कुछ भी नहीं जानती थी। उसने बतलाया कि मैं कुछ नहीं जानती। इसपर भयानक यन्त्रणाएं दी जाने लगीं। स्नेहलता को कालकोठरी में डाल दिया गया और 'सी' क्लास मिली। परिणाम हुआ उसका बीमार हो जाना। स्नेहलता को दमा पहले से ही था, किन्तु ठीक तरह इलाज और व्यवस्था न मिल पाने के कारण दौरा पड़ गया। कहते हैं कि इस दौरे में डॉक्टर ने जेलवालों को हिदायत दी थी कि उसे तुरन्त अस्पताल भेजा जाना चाहिए, क्योंकि वह मानसिक घुटन के कारण दिल की मरीज़ भी बन चुकी है, पर उपेक्षा कर दी गई। बाद में परिवारजनों के बहुत कुछ कहने-सुनने पर स्नेहलता को एक माह के लिए पैरोल पर रिहा किया गया, तथा दिल का दौरा पड़ने से स्नेहलता का अन्त हो गया। प्रखर विचारों वाली एक अभिनेत्री को देश ने खो दिया।

जॉर्ज फर्नांडिस के बड़े भाई श्री लारेंस फर्नांडिस की कहानी भी कम दर्दनाक नहीं है। लारेंस एक सीधे-सरल आदमी हैं और एक छापाखाना चलाते हैं। १ मई, १९७६ को लारेंस के घर पर दस्तकें हुईं। उन्होंने देखा कि कुछ लोग सादा कपड़ों में खड़े हुए हैं। इन लोगों ने बतलाया कि उन्हें थाने बुलाया गया है। लारेंस ने ज़्यादा 'ना-नुच' नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि पुलिस का दमनचक्र इस दौर में कितना अमानुषिक हो चुका है। उन्होंने सोचा कि थाने में जो कुछ भी पूछा जाएगा, उसका समाधानकारक उत्तर देकर लारेंस

चले आएंगे। वे थाने पहुंचे, किन्तु कहते हैं कि उनसे बिना कोई सवाल किए ही एकदम मारपीट शुरू कर दी गई। उन्हें नंगा कर दिया गया और बेंत बरसाए जाने लगे। हर बार पूछा जाता कि वे बतलाएं जॉर्ज फर्नांडिस कहां हैं? किन्तु लारेंस बेचारे क्या बतलाते? लारेंस को बेदर्दी से मारा गया। बीच में उन्हें चलती ट्रेन से नीचे फेंक देने के भी प्रस्ताव आए, किन्तु भाग्यवश ये प्रस्ताव पास नहीं हो सके और लारेंस की सांसें ज्यों-त्यों करके चलती रहीं।

लारेंस को जिस थाने में पूछताछ के लिए ले जाया गया था, उसके पास वाले कमरे से उन्होंने स्त्री-स्वर में एक दर्दनाक चीख सुनी थी। बाद में उन्हें मालूम हुआ कि वह चीख स्नेहलता रेड्डी की थी, जो उन्हींकी तरह केवल जॉर्ज के बारे में पूछताछ करने के लिए अत्याचार सह रही थी। बाद में लारेंस के बाल-दाढ़ी मुड़ाकर और घायल स्थिति पर औपचारिक इलाज करके बंगलौर से १५० किलोमीटर दूर किसी नगर में मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया और औपचारिक बयान हुए। लारेंस को इतनी बुरी तरह पीटा गया था कि उनके शरीर पर अनेक जगह प्लास्टर चढ चुका था। उस यंत्रणाकाल के दौरान कई बार लारेंस ने पुलिसवालों से प्रार्थना भी की थी कि उनके शरीर-कष्ट अब इतने असह्य हो चुके हैं कि उन्हें गोली मार दी जाए! किन्तु लारेंस जीवित रह गए।

इस तरह के अमानुषिक अत्याचारों से कितने लोग मरे होंगे। कितने लोगों ने तानाशाही के उन अंधेरे उन्नीस माहों में अपनी सांसें तोड़ दी होंगी—गिनती नहीं है। हाल में एक व्यक्तव्य देकर कुछ नेताओं ने दिल्ली के उन मीसा बन्दियों की रहस्यमय मृत्युओं पर जांच की मांग की है, जो जेल में दम तोड़ बैठे। ये तीनों थे—सर्वश्री बैजनाथ कपिल, तिलकराज नरूला, और मोहनलाल जाटव। श्री कपिल और नरूला जनसंघ के कार्यकर्ता थे, जबकि मोहनलाल भारतीय लोक दल के।

बहुत-से नाम हैं, जो अब क्रमशः सामने आ रहे हैं, किन्तु कितने नाम होंगे जो कभी सामने नहीं आ पाएंगे और जिन्होंने अपनी सांसें देकर तानाशाही की जड़ों में मट्ठा डाला था।

उपर्युक्त उदाहरणों के बाद भी पिछले दिनों जब मैंने श्रीमती गांधी के एक भाषण-अंश को 'दिनमान' में पढ़ा तो मुझे हैरानी होने लगी थी कि क्या इस सबको घटा देने के बाद कोई व्यक्ति इस तरह की बातें कर सकता है?

श्रीमती गांधी ने चुनाव के दौरान किसी सभा में कहा—"मैं सेविका के

रूप में जनता का सहयोग मांगने आई हूं, जिससे समाजवाद और लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा की जा सके। मेरी पार्टी अपनी उपलब्धियों के आधार पर दोबारा चुने जाने के लिए आपके सम्मुख आई है। इसमें शक नहीं है कि हमने अनेक चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना किया है…"

आपातकाल के नाम से देश को मानसिक रूप से पंगु बनाने वाले लोग अगर लोकतन्त्र शब्द का उच्चारण करें तो कैसा लगता है? किन उपलब्धियों के आधार पर कांग्रेस भारतीय मतदाता से वोट मांग रही थी? और किन लोगों के लिए? क्या उनके लिए जिनके बारे में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने १३ अप्रैल, १९७७ के अपने सम्पादकीय में लिखा है :

"भूतपूर्व स्पीकर श्री बलिराम भगत ने कहा कि बिहार कांग्रेस अध्यक्ष श्री सीताराम केसरी और मुख्यमंत्री की ढिलाई के कारण वे चुनाव में हार गए। इसपर केसरी ने उत्तर दिया कि बलिराम भगत इसलिए हारे हैं क्योंकि उन्होंने स्वातंत्र्य-संग्राम में बिना जेल जाए ही ताम्रपत्र हथिया लिया था और मतदाता उनकी यह हरकत नापसन्द करते थे। डा० रामसुभग सिंह ने भी कहा कि मतदाताओं को यह मालूम हो गया था कि बलिराम भगत ने दिल्ली में तीन मकान बनवा लिए हैं।"

आपातकाल को लेकर सरकारी स्तर पर और व्यक्तिगत रूप से श्रीमती गांधी चुनाव में और उससे पूर्व बराबर कहती रही थीं कि इस दौरान देश ने अभूतपूर्व उपलब्धियां प्राप्त की हैं। इन उपलब्धियों में यह विशेष रूप से बतलाया जाता था कि महंगाई कम हो गई है और लोगों की जरूरत की सभी चीजें, जो कि आपातकाल से पूर्व अक्सर मुनाफाखोर लोग बाजार से गायब कर दिया करते थे, उपलब्ध हैं। यदि आंकड़ों को देखा जाए तो यह प्रचार भी व्यर्थ साबित होता है। आपातकाल के प्रारंभ में कीमतों पर असर पड़ा था, किन्तु कुछ ही माहों बाद वे उसी गति से बेकाबू होने लगी थीं, जिस गति से पहले रही थीं। यही नहीं मैंने सामान्यतः दुकानदारों को उपेक्षा के साथ यह कहते भी सुना था कि 'हो गया, जितना होना था, अब आगे कुछ नहीं होगा।' जाहिर था कि जिस भय की बुनियाद पर श्रीमती गांधी सुधार को व्यवहार रूप में लाना चाहती थीं, वह क्रमशः प्रभावहीन होता जा रहा था। हां, यदि भय था तो उन लोगों में जो मुक्त विचार रखते थे और जो इस निश्चित नतीजे तक पहुंच चुके थे कि आपातकाल महज सत्ता को बचाए रखने और लोकतन्त्रीय स्वरों को कुचल डालने का एक राजनीतिक कुचक्र है—थोड़े ही दिनों

में लोगों ने यह भी समझ लिया था कि अब एक तानाशाही में जीते जाना ही उनकी नियति है। ऐसी तानाशाही जो पारिवारिक रूप से बाद में श्री संजय गांधी के हाथ पहुंचनेवाली है।

संसार के किसी भी देश के इतिहास में उसके राजनीतिक आकाश पर संजय गांधी की तरह उगनेवाले सितारे का प्रमाण नहीं मिलता। यह प्रमाण केवल भारत ने ही दिया। बल्कि यों कहा जाना ज़्यादा उचित होगा कि यह प्रमाण भारतीय जनमानस ने नहीं, उस तानाशाही ने दिया, जिसकी सुरक्षा में गैरज़िम्मेदार व्यक्ति, ज़्यादा गैरज़िम्मेदारी और धांधली में पनपे। सामान्यतः बहुत-से लोगों के मुंह मैंने एक तर्क यह सुना है कि श्रीमती गांधी पूरी तरह से अंधेरे में रखी जा रही थीं और उन्हें मालूम ही नहीं था कि उनकी आड़ में संजय गांधी या उनके लेफ्टिनेंट क्या कुछ कर रहे हैं। इस तरह के तर्क देनेवालों के लिए चुनाव के बाद 'ब्लिट्ज़' के दिल्ली ब्यूरो से ए० राघवन द्वारा लिखे गए निम्न शब्द काफी हैं :

"प्रधानमंत्री को सबसे ज़्यादा शर्मनाक हार खानी पड़ी। इसका मुख्य कारण यह है कि वह अपने उद्दंड बेटे के प्रति गहरी ममता संजोये रहीं और उसने जो कुछ हरकतें कीं, उन्होंने चुनाव-अभियान के आखिरी दिनों में उनका न तो विरोध किया और न ही उससे अपना नाता तोड़ा।…

"…दक्षिण में जहां संजय अपना दुष्ट प्रभाव नहीं डाल सके या इसके लिए उन्हें समय नहीं मिला वहां चुनाव में शासक पार्टी को अपूर्व विजय प्राप्त हुई…

"…श्रीमती गांधी अपने बेटे के भौतिक और राजनीतिक दुराचारों से घनिष्ठ रूप से परिचित थीं। हमें ऐसे बीसियों मित्रों और शुभचिन्तकों का पता है, जिन्होंने उनसे इस भयानक स्थिति में दखल देने की प्रार्थना की थी, लेकिन उन्हें बेरुखी के साथ टाल दिया गया। इन्दिराजी की शह से संजय के पाप और भी बढ़कर गांधी और नेहरू की कांग्रेस को ले डूबे।"[1]

'ब्लिट्ज़' का उपर्युक्त कथन मैंने विशेष रूप से इस कारण उद्धृत किया है, क्योंकि नेहरू परिवार के प्रति 'ब्लिट्ज़' के मन में भी कम ममता नहीं रही है, पर एक स्थिति ऐसी आई जब ब्लिट्ज़ को सचाई की विषैली कड़ुवाहट लाचारी में उगलनी पड़ी और जैसे ही चुनाव-घोषणा हुई, वैसे ही आपातकाल

---

१. ब्लिट्ज़, मार्च २६, १९७७

और जन-मानस के उखड़ाव को लेकर उसने लिखना आरंभ कर दिया।

आश्चर्यजनक किन्तु दुःखद सत्य यह है कि चुनाव में अपनी तानाशाही की जबरदस्त पराजय के बावजूद श्रीमती इन्दिरा गांधी ने संजय गांधी को लेकर कहा कि संजय पर दोष मढ़ना व्यर्थ है।

मैंने पूर्व में आर्थिक उपलब्धियों या कुल देश के ही हर क्षेत्र की सामाजिक, सांस्कृतिक, उपलब्धियों की बात की है, जिन्हें लेकर चुनाव में ढोल पीटा जाता रहा था कि वोट कांग्रेस को ही मिलने चाहिए क्योंकि देश ने बड़ी तरक्की की है। तरक्की किस तरह हुई, कैसी हुई इसका लेखा-जोखा करते हुए 'ब्लिट्ज़' ने लिखा—"इमर्जेंसी की घोषणा के दो दिन बाद ही प्रधानमंत्री ने अपने पहले ब्राडकास्ट में व्यवसायियों को अभयदान दे दिया। तब से आर्थिक क्षेत्र में सरकार ने बड़े व्यवसायियों को शक्तिशाली बनाकर उनकी आक्रामक शक्ति को बढ़ाया ही। दूसरी तरफ अधिकारियों ने अनिवार्य बचत योजना, बोनस में कटौती आदि के ज़रिये मज़दूरों और कर्मचारियों पर आक्रमण किया।...

"... और जैसे-जैसे इमर्जेंसी का वक्त गुज़रता गया, उसका आर्थिक प्रगति का दावा खत्म हो गया और वह दरअसल दमन का हथियार बन गई। तमाम व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं का दमन कर दिया गया।"

किन्तु इस दमन-चक्र में कुछ लोगों के हाथों में असीम शक्ति जा पहुंची थी। वे हाथ, जो राजनीतिक स्तर पर कांग्रेस दल के नहीं, एक तरह से श्रीमती गांधी और संजय के निजी हाथ थे। इन हाथों के ज़रिये ठीक हिटलरी पद्धति से तानाशाही का चक्र चलता रहा था। सर्वश्री बंसीलाल, ओम मेहता, विद्याचरण शुक्ल के पास ऐसे विभाग थे, जिनके माध्यम से किसी भी देश का शासन-तंत्र चलता है। इन उप-तानाशाहों ने उन्नीस माहों के भीतर आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय राजनीतिक करिश्मे किए।

इमर्जेंसी के दौरान फिल्म-उद्योग के साथ सूचना और प्रसारण मंत्रालय कैसी-कैसी नाटकीय हरकतें करता रहा, इसका विवरण देते हुए ऑल इण्डिया फिल्म प्रोड्यूसर्स कौंसिल के अध्यक्ष जी० पी० सिप्पी ने एक वक्तव्य में ढेरों आरोप लगाए और प्रमाण दिए। श्री सिप्पी ने सेंसरशिप को व्यवसाय और कला के लिए 'दमघोंट' नीति बतलाते हुए कहा था कि जब-जब फिल्म-निर्माताओं ने सेंसरशिप में ढील की मांग की, तब-तब उन्हें और ज़्यादा तेज़ कैंची का सामना करना पड़ा। यही नहीं, कई निर्माताओं को तो कुछ लोगों की ...

क्योंकि उनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन के बीच इतनी रहस्यपूर्ण बातें, घटनाएं या पोलें होती हैं कि जिनके भय से वे किसी भी पल मुक्त नहीं रह पाते। इस स्थिति का लाभ आपातकाल में सरकार ने खूब उठाया। इसका मज़ेदार उदाहरण है चुनाव के दौरान दैनिक समाचार पत्रों में पूरे-पूरे पृष्ठ के वे विज्ञापन, जिन्हें व्यक्तिगत तौर पर श्री सुनीलदत्त और नरगिस दत्त ने दिया। पिछले पृष्ठों पर मैंने सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय से अखबारों को दिए गए निर्देशों में जिन समाचारों का उल्लेख किया है, उनमें नरगिस-सम्बन्धी एक समाचार है। क्या यह माना जाना चाहिए कि चुनाव के दौरान उस समाचार को रोके जाने के बदले में कांग्रेस पक्ष का समर्थन करते हुए ऐसे विज्ञापन दिए जा रहे थे? इसके बावजूद फिल्म उद्योग के कुछ लोग जिस बुलन्दी और निर्भयता के साथ तानाशाही के विरुद्ध जन-मंच पर आए, उसकी सराहना करनी चाहिए। स्वतंत्रता के तीस बरसों में फिल्म उद्योग में यह एक क्रांति ही थी कि पहली बार उद्योग के कुछ लोग जन-मंच पर आकर सत्ता के विरोध में अपनी ईमानदार आवाज़ बुलन्द करें। खास तौर से उन स्थितियों में, जिनमें कि भारतीय फिल्म उद्योग सिर्फ रहस्यों की सुरंग बना हुआ है और उद्योगवालों को इनकमटैक्स, काले रुपये और उसी तरह के काले किस्सों के बीच किसी न किसी स्तर पर गुंथे रहना होता है।

तानाशाही में कला और कलाकार की किस तरह हत्या की जाती है, इसका प्रमाण सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के उस निर्देश से मिल सकता है, जिसके अनुसार कलाकारों के व्यक्तिगत कला-जीवन को भी मुक्त नहीं रहने दिया गया था। एक आदेश के अनुसार उनपर पाबन्दी लगा दी गई थी कि वे स्वतंत्र रूप से दिए जाने वाले किसी भी संस्था के पुरस्कार को न लें, न किसी ऐसे समारोह में जाएं। इस पाबन्दी में आपातकाल के दौरान कौन-सा देशहित किया जा रहा था?

एक ओर श्री शुक्ल[1] और उनका सूचना प्रसारण मंत्रालय फिल्म उद्योग में

---

1. "Shri Shukla was a curse on the Film Industry. He behaved like a dictator. Disobeying his orders, was just like a death-knell! He boosted non-entity Sanjay Gandhi in press, over radio and T.V. He imposed upon several film personalities to participate in Sanjay Gandhi's rallies and Youth Congress programmes." (Film Information, 26 March, 1977)

निजी तानाशाही चलाए हुए थे, दूसरी ओर वे साहित्य और रंगमंच पर भी खासी दखलन्दाज़ी कर रहे थे। जन-मंच से होने वाले भाषण ही नहीं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर भी जबरदस्त पाबन्दी थी। इस पाबन्दी के परिणामस्वरूप केवल वे कार्यक्रम हो पा रहे थे, जिनमें किसी न किसी रूप में तानाशाही का प्रचार किया जा सकता था। कलात्मकता लगभग नष्ट हो चुकी थी और विचार का मूल मानवीय स्तर ही समाप्त हो गया था। १९७४ में मैंने एक तीन अंकी नाटक लिखा था 'विकल्प'।[1] पाडुलिपि को अन्तिम रूप देते-देते २६ जून को आपातकाल प्रारंभ हो गया। इस नाटक का कथ्य था आज की राजनीति में बिखराव और दिशाहीनता की स्थिति। विरोधी और सत्ताधारी दोनों के ही भटकाव पर व्यंग करते हुए मैंने जतलाया था कि बार-बार यह प्रचार करना कि 'देश के हालात खराब है' झूठ है, सच तो यह है कि व्यक्ति के हालात खराब है। और इस खराबी का कारण देश नहीं, बल्कि हम है जो नैतिक मूल्यों को बिसरा बैठे है। इस नाटक के मंचन और प्रकाशन दोनों ही केवल इस कारण खटाई में पड़ गए, क्योंकि इसमें राजनीतिक चरित्र थे या एक तरह से सत्ताधारियों के ढोंग उजागर हुए थे, उसी तरह जिस तरह सामाजिक जीवन के अन्य ढोंगियों के मुखौटे बतलाए गए थे। किसी दल-विशेष या विचार-विशेष का प्रचार न होते हुए भी नाटक कुछ सरकारी लोगों की राय में 'खतरनाक' करार दे दिया गया था।

सुप्रसिद्ध नाट्य निर्देशक-लेखक और मेरे मित्र बृजमोहन शाह को भी इस आपातकाल उर्फ तानाशाही का एक खट्टा अनुभव हुआ। ग्वालियर की एक नाट्य संस्था उनका 'युद्धमन' नामक नाटक उन्हीं के निर्देशन में अभिनीत करने जा रही थी, किन्तु सेंसर आड़े आ गई। चूंकि नाटक की पूरी तैयारी हो चुकी थी। लम्बी रिहर्सलें की जा चुकी थी। हाल बुक हो चुका था, अतः संयोजक संस्था खासा धन व्यय कर चुकी थी। सेंसर ने जब उसपर कलम चलाई तो कुल नाटक का रूप ही विचित्र ढग से प्रभावहीन होकर रह गया। नाटक का कथ्य था—युद्ध का विरोध और युद्धवादियों के अमानवीय हथकंडों को उजागर करना।

बहरहाल यह हुईं आपातकाल की कलात्मक उपलब्धियां (?)। एक

---

१. अब 'विकल्प' का प्रकाशन, 'सरस्वती विहार' २१ दयानन्द मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली ११०००२, से हुआ है।

उपलब्धि हुई वयोवृद्ध लेखक गुरुदत्त को। बहुत पहले उनका एक उपन्यास 'मधु' प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास में उन्होंने चुनावी भ्रष्टाचार का वर्णन किया था। अचानक एक सुबह मुझे मालूम हुआ कि गुरुदत्तजी को मीसा में बन्द कर दिया गया है। कारण? वह उपन्यास, जो उन्होंने बहुत पहले लिखा था। जीवन के सन्ध्याकाल में बैठे वृद्ध लेखक के साथ हुए इस बर्ताव पर मुझे ही नहीं, सभी बुद्धिजीवियों और कलाकारों को गहरी वेदना हुई। उससे भी आगे बढ़कर यह समाचार मिला कि उक्त उपन्यास के प्रकाशक से एक लाख रुपया नकद की जमानत मांगी गई है, ताकि आगे कभी वे उस तरह की (जिसमें कांग्रेसी भ्रष्टाचार की चर्चा हो) पुस्तक प्रकाशित करने का 'दुस्साहस' न करें।

भयानक मानसिक यंत्रणा से भरे उस तानाशाही समय को लेकर कई लोगों से जब यह सुनने को मिलता है कि दुष्काल को दुःस्वप्न की तरह भुला दिया जाए तो तकलीफ ज्यादा गहरी हो उठती है। आर्थिक या भौतिक हानि को आदमी एक बार भुलाने की कोशिश कर सकता है, किन्तु समूचे मानस को झकझोर डालनेवाली कटु स्मृति उतनी सहजता से नहीं भुलाई जा सकती।

अन्धेरगर्दी और अनबूझ तानाशाही के समय में ही चुनावों को लेकर अटकलबाजियां शुरू हो गई थीं कि अब संभवतः श्रीमती इन्दिरा गांधी चुनाव करवाएंगी। लाखों लोगों ने फुसफुसाहटों के बीच हैरत जाहिर की थी कि इन्दिराजी चुनाव करवाने की भूल कर सकती है? मैं 'भूल' शब्द का जानबूझकर उपयोग कर रहा हूं, क्योंकि मैं उस सामन्तवर्ग में नहीं था, जो जनता से हजारों मील दूर गलतफहमी में जी रहा था कि देश ने उपलब्धियों के ढेर कर लिए हैं; विरोध का गला दबाया चुका है और चारों दिशाओं में आनंद ही आनंद हो रहा है। मैं जनता के उस वर्ग में जी रहा था, जो उस अटकलदौर में ही यह अच्छी तरह समझ सकता था, उन लाखों लोगों की तरह, जिन्होंने तानाशाही का भयावह आतंक देखा-भोगा था। लोग चुप थे और इन्दिराजी के संस्थाई सूबेदार समझ रहे थे कि लोग खुश हैं। लोग घुटे हुए थे

---

१. 'मधु' का लायब्रेरी संस्करण राजपाल एण्ड सन्ज दिल्ली से प्रकाशित हुआ था, और पॉकेट संस्करण के प्रकाशक हैं—हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा० लिमिटेड, दिल्ली-३२।

और कांग्रेस का ख्याल था कि 'सब कुछ पा जाने के आनन्दातिरेक में' उनके गले रुंधे हुए हैं। लोग बेचैन थे और इन्दिराजी समझ रही थीं कि लोग वोट देना चाहते हैं। वैयक्तिक स्तर पर जिन राजनेताओं को आपातकाल की अमोघ शक्ति से जेलों में बन्द कर रखा गया था, उन्हें लेकर समझा जा रहा था कि जनता को उनमें लगाव नहीं है। कई लोगों को इसी तरह समझा जा रहा था।

चुनाव होंगे" यह सुरसुरी राजधानी से संभवत दिसम्बर, १९७६ में उठी और इस सुरसुरी को लेकर दबी-मुंदी फुसफुसाहटें फैल गईं। क्या श्रीमती गांधी नहीं जानती हैं कि चुनावों का मतलब होगा, कांग्रेस का सफाया या जबरदस्त पराजय? या श्रीमती इन्दिरा गांधी यह समझ रही हैं कि लोगों ने तानाशाही तंत्र को स्वीकृति दे दी है? या फिर इन्दिराजी अपने बेटे की मनमानियों से परेशान होकर 'इस पार उस पार' का खेल खेलना चाहती हैं या भीतरी तौर पर देश में गड़बड़ शुरू हो गई है? या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विदेशों में श्रीमती गांधी के लोकतंत्रीय बुर्केवाले तानाशाह रूप को पसन्द नहीं किया जा रहा है? या श्री सुब्रह्मण्य स्वामी, श्रीमती लैला फर्नांडिस और केदारनाथ साहनी जैसे विरोधी लोगों के विदेश पहुंच जाने के कारण श्रीमती गांधी के तानाशाही तंत्र के कारण उनकी बदनामी हुई है? या फिर देश की समस्याएं भीतरी तौर पर जटिल हो गई हैं? और या कांग्रेस में भीतरी तौर पर गड़बड़ होने लगी है? अथवा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के भूमिगत आन्दोलन ने तानाशाही को खोखला कर दिया है?

ये विभिन्न अनुमान, तर्क और कारण थे, जिन्हें लेकर चुनावों पर अटकलें लगाई जा रही थीं। चुनाव होंगे इस सुरसुरी के साथ ही एक निश्चित राय गावों तक में सुनी गई थी कि श्रीमती गांधी ऐसी भूल करके अपने-आपको उलझन में डालना नहीं चाहेंगी, इसलिए चुनाव नहीं होंगे। विरोधी नेताओं को जेलों की कालकोठरियों में ही सड़ा-सड़ाकर मार डाला जाएगा।

चुनाव की खबर और अटकलबाजियों ने इतना जोर पकड़ा कि जनवरी, १९७७ प्रारंभ होते-होते गृहमंत्री श्री ओम मेहता ने एक वक्तव्य देकर देश को सूचना दी कि चुनावों को लेकर बेकार ही अनुमान लगाए जा रहे हैं। निकट भविष्य में ऐसी कोई स्थिति नहीं है। राजनीतिक पर्यवेक्षक चकित हो गए। विशेषकर इसलिए क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गिरती भारत के कांग्रेसी

शासन की प्रतिष्ठा देखते हुए पर्यवेक्षकों ने यही निष्कर्ष निकाला था कि बदनामी से उबरने के लिए श्रीमती गांधी चुनाव करवाएंगी। पर्यवेक्षकों ने और भी बहुत-से अनुमान प्रस्तुत किए थे और देश की आंतरिक स्थिति, कांग्रेस की भीतरी तौर पर दलगत स्थिति और निरंकुश जनता की ऊब इसी नतीजे पर पहुंचा रही थी कि श्रीमती गांधी अब चुनावों का आसरा लेंगी। थोड़े समय से कई नजरबन्द नेताओं की रिहाई और उनमें से कुछ के साथ हुई गुप्त वार्ता, चुनाव कमीशन को दिए गए सतर्कता-संकेत और कमीशन का कुछ सक्रिय होना, तथा कांग्रेस नेताओं के वक्तव्य, सभी कुछ से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं रहा था कि श्रीमती गांधी संभवतः चुनाव करवाने का निर्णय ले चुकी हैं। पर ओम मेहता के वक्तव्य ने इन सारी अटकलों को मटियामेट कर दिया था।

किन्तु श्रीमती गांधी चुनाव क्यों करवाएंगी? क्या केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गिरती प्रतिष्ठा के कारण? निश्चय ही ऐसा नहीं था। कम से कम सिर्फ यही कारण नहीं था। मुझे लगता था कि यदि श्रीमती गांधी चुनाव का निर्णय लेती हैं तो केवल उपर्युक्त कारण से नहीं, बल्कि इस तरह की 'रिस्क' वे केवल इसलिए उठानेवाली होंगी क्योंकि अन्दरूनी तौर पर प्रशासनिक हालत खस्ता होने लगी है।

आपातकाल के दौरान बड़ी-बड़ी उपलब्धियों का प्रचार करते हुए भी अन्ततोगत्वा शासकीय स्तर पर यह स्वीकार लिया गया था कि कीमतें बढ़ने लगी हैं और कीमतें बढ़ने का कारण कपास, तेल या तिलहन की कमी न होकर उनकी सट्टेबाज़ी और कालाबाज़ारी है। इस सट्टेबाज़ी और कालाबाज़ारी और को बढ़ावा कौन दे रहा था? तानाशाही के दौर में पनपे अपने लोग और उनके अपने लोग। नौकरशाही और भ्रष्टाचार कई गुना बढ़ चुका था और इस सबपर काबू पाना सरकार के लिए ही कठिन होने लगा था। मजदूरों में बोनस के मामले को लेकर असंतोष बढ़ता जा रहा था तथा मिल-मालिक तालाबन्दी करने में जुट गए थे। भीतरी तौर पर कांग्रेस दल में ही आपातकाल हटाने की मांग उठने लगी थी और श्रीमती गांधी संभवतः महसूस कर रही थीं कि लोकतंत्र-कम-तानाशाही का यह डबल रोल बहुत लम्बा नहीं चलाया जा सकता।

कुछ लोगों का अनुमान है कि श्रीमती गांधी मूलतः इस कारण परेशान थीं कि संजयवाद के उत्कर्ष ने कांग्रेस दल के भीतर खासा विद्रोह पैदा कर दिया

था। पुराने और तीसे कांग्रेसी श्रीमती गांधी की सत्ता और तानाशाही में तो ज्यों-त्यों करके समझौता किए चले जा रहे थे, किन्तु उनमें से ज्यादातर संजय की राजनीतिक खुदाई को नही सह पा रहे थे। इस स्थिति को बहुत दिनों तक इन्दिराजी ने भीतरी वार्ताएं करके दबाए-छिपाए रखा था, किन्तु बाद में वैसा कर पाना असभव हो चुका था तथा नन्दिनी सतपथी और उसके बाद सिद्धार्थ शंकर राय-विवाद ने काले दही की ये हाडी चौराहे पर ला फोड़ी थी।

बहरहाल देशवासियो ने अविश्वसनीय ढग से १९७७ की १८ जनवरी को रात मे प्रधानमत्री श्रीमती गाधी का अप्रत्याशित सन्देश सुना, जिसमे उन्होंने मार्च माह मे लोकसभा चुनाव कराए जाने की घोषणा की। इसी दिन श्रीमती गाधी ने यह सूचना भी दी कि आपात स्थिति मे ढील दी जा रही है, ताकि मान्य राजनीतिक दल चुनाव गतिविधियो मे हिस्सा ले सकें। अगले ही दिन दो प्रमुख नेताओ की रिहाई के समाचार जनता ने समाचार पत्रों मे पढ़े। ये थे सर्वश्री मोरारजी देसाई और लालकृष्ण अडवानी।

श्रीमती गाधी की उपर्युक्त घोषणा ने दबे-रुंधे स्वरों को बोलने की स्वीकृति दी, हालाकि शंका, भय और आतंक से त्रस्त चेहरे उस समय भी परेशान दीखते थे, *क्योंकि आपातस्थिति मे 'थोड़ी ढील' किस्म का घुमावदार* शब्द उन्हें सहज नही होने दे रहा था। इसके बावजूद महसूस किया जा रहा था कि अंधेरी लम्बी सुरग मे अनायास ही कोई रोशनी की किरण उग आई है।

लोकतंत्र या तानाशाही : चुनाव

२३ जनवरी को जनता पार्टी के निर्माण की घोषणा हुई। इस पार्टी के तहत सगठन कांग्रेस, जनसंघ, भारतीय क्राति दल और सोशलिस्ट पार्टी एकत्र हो गए थे। उन्होंने एक झडा, एक निशान, एक विचार का निर्णय लिया था और घोषणा की थी कि उपर्युक्त चारो ही दलों ने जनता पार्टी में विलय का निश्चय कर लिया है। यह एक सनसनीखेज और तीखी खबर थी, जिसके कारण मतदाता गभीर होकर इन सभी दलों के बारे मे सोचने लगा था। वह खुश था कि इस राजनीतिक ध्रुवीकरण ने देश की राजनीति को एक निश्चित और स्थायी दिशा दी है, जब वह कांग्रेस के विकल्प रूप मे जनता पार्टी के बारे मे सोच सकता था।

इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है लोकनायक जयप्रकाश नारायण का वह वक्तव्य, जिसे उन्होंने चुनाव-घोषणा पर हर्ष व्यक्त करते हुए दिया था। श्री नारायण ने कहा था कि विरोधी दल यदि एक होकर अपने-आपको एक-दूसरे में विलीन कर लेने पर तैयार होते हैं तब वे उनका चुनाव-प्रचार करने को भी तैयार हैं। इसके साथ-साथ श्री नारायण ने स्पष्ट कर दिया था कि यदि वे ऐसा न करके 'अपनी-अपनी ढफली, अपना-अपना राग' ही अलापते रहेंगे, तब श्री नारायण चुनाव से अलग रहने के लिए बाध्य होंगे।

इस घोषणा का सभी विरोधी दलों पर प्रभाव हुआ। सभी दल गत उन्नीस माहों के दमन-चक्र में यह पूरी तरह अनुभव कर चुके थे कि उन्हें यदि लोकतंत्र और अपना अस्तित्व बनाए रखना है तो बिखराव की स्थिति त्याग कर एक होना पड़ेगा और उस निश्चित विचार के साथ जुड़ना होगा जो जयप्रकाश बाबू ने दिया है और जिसके अनुसार समग्र क्रांति का जन्म हुआ है। इसके साथ ही व्यक्तिगत स्तर पर अनेक विरोधी नेता महसूस करने लगे थे कि जनता उन्हें व्यक्ति-रूप में नहीं, विचारधारा के रूप में स्वीकार करने को तैयार है और यदि ऐसा नहीं होता तो किसी भी पल जनता ही उन्हें कचरे के ढेर में फेंक सकती है। यही कारण है कि आम चुनाव में विजय के बाद जब जनता पार्टी के नेता श्री रामधन से धर्मयुग के उदयन शर्मा ने प्रश्न किया कि, "जनता पार्टी के अन्दर भी कुछ लोगों ने सत्ता-संघर्ष का अजीबोगरीब खेल दिखाया। क्या इन प्रवृत्तियों पर काबू पाकर जनता पार्टी एकजुट रह सकेगी ?"

श्री रामधन ने उत्तर दिया, "जनता पार्टी एकजुट रहेगी, क्योंकि उसे एकजुट रहना पड़ेगा। जनता का दबाव इतना है कि वह पार्टी में दरार डालने वाले का राजनीतिक अस्तित्व भी खत्म कर देगी।"

प्रकट है कि एक स्थिति यह भी थी। इस तरह लोकनायक के समग्र क्रांति दर्शन, देश की राजनीतिक चेतना, और जनमानस की अपेक्षाओं ने बिखरे हुए दलों को इस निश्चित विचार तक पहुंचाया कि ध्रुवीकरण का मार्ग ही देश और उनके अपने लिए श्रेयस्कर है। इस तरह स्वतंत्रता के तीस वर्षों बाद एक ज़बरदस्त राजनीतिक शक्ति भारत में तैयार हुई। इस शक्ति के सामने कांग्रेस के वाद, बेबुनियाद और गलत प्रचार ने घुटने टेक दिए।

जनता पार्टी की घोषणा ने कांग्रेसी इन्दिरा खेमे में हड़बड़ी फैला दी। इस हड़बड़ी के बहुत-से कारण थे। एक बड़ा कारण था—आपातकाल में हुआ अत्याचार और तानाशाही अंधेरे का अनुभव, दूसरा उससे भी बड़ा कारण था

एक न्यायिक तर्क कि विरोधी दलों को चुनाव के लिए समय बहुत कम दिया गया था। सहज ही था कि जन-साधारण ने एक निश्चित निष्कर्ष यह निकाला कि ऐसा जानबूझकर किया गया है, क्योंकि श्रीमती गांधी चाहती हैं कि विरोधी दलों को जनता तक अपनी बात पहुचाने का अवसर ही न मिले। साधनहीन तो वे हैं ही। सहज था कि जनता की सहानुभूति इस सत्तागत 'बेईमानी' के कारण जनता पार्टी की ओर जाए। तिसपर सबसे बड़ी बात थी राजनीतिक ध्रुवीकरण। इस बड़े काम ने देश को एक स्पष्ट नतीजा दे दिया था कि विरोधियों के पास निश्चित विचार और लक्ष्य है जिसने उन्हें एकमत करके तानाशाही के विरुद्ध खड़ा कर दिया है। उससे भी बड़ी बुनियाद जनता पार्टी के पास थी, उसके नेताओं पर चलाया गया क्रूर दमन-चक्र। इन सारी बातों के बाद घोषणा के तुरत बाद, लगभग दो सप्ताह के भीतर ही इन्दिराजी और कांग्रेस इन स्थितियों की गभीरता को पूरी तरह भाप गए। जनता पार्टी और कांग्रेस दोनों दलों के नेताओं द्वारा जन-मच पर कही जाने वाली बातों ने ही सिद्ध करना शुरू कर दिया था कि कांग्रेस और श्रीमती गांधी का व्यक्तिगत प्रभाव किस लिजलिजी हालत में जा पहुचा है।

जयप्रकाशजी ने सबसे पहले एक वक्तव्य देकर जनता पार्टी के चुनाव-अभियान का प्रारभ किया और कहा कि यह चुनाव देश का निर्णायक चुनाव है और इसमें यह फैसला होने वाला है कि देश तानाशाही को चुनता है अथवा लोकतंत्र को।

मैं समझता हूं कि यह सम्पूर्ण चुनाव उपर्युक्त दो पक्तियों की बुनियाद पर ही हुआ और जनता ने मत भी इसी आधार पर दिए।

देश मे धीमे-धीमे राजनीतिक चेतना और खोया हुआ विश्वास जाग रहा था। बार-बार विरोधी नेताओ को अपनी सभाओं में कहना होता था कि मतदाता भयमुक्त होकर मतदान करें। चुनावी नारों मे ज्यादा पोस्टर विरोधी दल की ओर से इस आशय के लगाए गए थे कि भय को निकालकर वोट दें। इस चुनाव मे विरोधी दल को एक बहुत बड़ी परेशानी यह आ रही थी कि आपातकाल के तानाशाही युग ने सामान्य जन को बुरी तरह भयभीत कर रखा था। मतदान से पूर्व उसकी चेतना और बिखरे हुए विश्वास को बटोरना विरोधी दलों के लिए अत्यावश्यक हो गया था।

घोषणा-पत्रों के दौरों में भी सिद्धाततः कांग्रेस और जनता पार्टी की दो बातों पर मतदाता ने ज्यादा विचार किया। यह भी कांग्रेस का यह कहना

पिछले आमचुनाव की तरह ही इस बार भी विरोधियों ने खिचड़ी बनकर कांग्रेस को हराने का संकल्प उठाया है, और जनता को यह निर्णय करना है कि वह विभिन्न दलों से मिलकर बनी जनता पार्टी को वोट दे या कि कांग्रेस नाम की एक जमात को। श्रीमती गांधी अपने हर भाषण में दोहरा रही थीं कि केन्द्र में स्थाई सरकार के लिए केवल कांग्रेस ही है, जिसे वोट मिलना चाहिए। देश के राजनीतिक स्थायित्व के लिए यह आवश्यक है और मतदाता को इसी आधार पर निर्णय लेना है, जबकि विरोधी दल का सबसे बड़ा नारा था—'लोकतंत्र या तानाशाही—मतदाता चुन लें कि क्या सही है, क्या गलत !'

और मतदाता शांत भाव से दोनों ही पक्षों की बातें सुन रहा था। यह अपने-आप में विचित्र बात थी कि राजनीतिक दलों को ज़बरदस्त गहमागहमी के बावजूद मतदाता एकदम प्रतिक्रियाहीन बना हुआ था। हां, राजनीतिक स्तर पर दोनों ही ओर अपनी-अपनी तरह अटकलें लगाई जा रही थीं। जैसा कि पिछले हर भारतीय चुनाव में होता रहा था, मतदाता को लेकर निरंतर एक गलतफहमी राजनीतिक स्तर पर यह रही कि जिसका प्रचार ज़ोरदार होगा और जो 'अपनी जोरदार हवा फैला सकेगा' वोट उसीको जाएंगे। हालांकि चुनाव के नतीजों ने बाद में यह राजनीतिक गलतफहमी बुरी तरह धो डाली कि 'मतदाता बुद्धि पर नहीं, प्रचार पर चलता है'।

प्रतिक्रिया का पहला चमत्कार उस समय हुआ, जब दिल्ली में रामलीला मैदान में जनता पार्टी की एक आमसभा हुई, किन्तु उससे पहले एक ऐसा राजनीतिक उलटफेर हुआ, जिसने कांग्रेस पक्ष को बुरी तरह लड़खड़ा दिया। यह उलटफेर था सर्वश्री जगजीवन राम, हेमवतीनन्दन बहुगुणा, नन्दिनी सतपथी आदि कांग्रेसी नेताओं का कांग्रेस-त्याग। इस त्याग का कारण था दल में आंतरिक रूप से लोकतंत्र की हत्या करना। स्पष्टतः यह तानाशाही के विरुद्ध लोकतंत्र की बगावत थी।

बहुत-सी राजनीतिक उखाड़-पछाड़ और अटकलें लगनी शुरू हुईं। यह कि श्री जगजीवन राम ने उस समय वैसा क्यों नहीं किया, जबकि देश पर आपातस्थिति के नाम से तानाशाही थोपी गई थी और बर्बर दमन तथा अत्याचार चल रहे थे ? श्रीमती गांधी ने बाबूजी के त्यागपत्र पर आश्चर्य और दुख प्रकट करते हुए कहा कि उन्हें जगजीवनराम से ऐसी आशा नहीं थी। यह भी कि त्यागपत्र देने के कुछ देर पूर्व श्री जगजीवनराम श्रीमती गांधी के पास बैठे

हुए देर तक बातें करते रहे थे और उस समय उन्होंने, उन्हें ऐसा कोई संकेत नहीं दिया था।

श्री जगजीवनराम ने इन सारे सवालों और राजनीतिक कुरेदनों का उत्तर बड़ी साफगोई से यह कहकर दे दिया कि आपातस्थिति जारी करने के पूर्व मंत्रिमंडल में उनसे बिलकुल सलाह नहीं ली गई थी। वे कभी इस तानाशाही के समर्थक नहीं रहे और स्पष्ट शब्दों में 'राजनीतिक रूप से मौका देख रहे थे कि कब उन्हें इस सबसे अलग हो जाना है। आठ-दस दिन की गरमागरमी के बाद यह विवाद ठंडा हो गया और एक नई किस्म का भविष्य उभर आया, जिसके अनुसार कांग्रेस की स्थिति एकदम डावांडोल हो चुकी थी और देशी-विदेशी सभी राजनीतिक समीक्षक इस नतीजे पर पहुंच चुके थे कि यह चुनाव *बहुत 'कांटे का' होगा और इसमें कांग्रेस की पराजय नहीं हुई तो हालत खस्ता* हो जाने की पूरी आशंका है।

रामलीला मैदान में एक विशाल आम-सभा में श्री संजय गांधी भाषण करनेवाले थे। शहर में इस आशय की घोषणा करते हुए कांग्रेस की ओर से पोस्टर भी लगाए जा चुके थे, प्रचार भी चल रहा था, पर अचानक एक परिवर्तन हुआ। उस आम सभा में श्रीमती गांधी ने भाषण दिया और संजय गायब हो गए। यह घटना बहुत छोटी-सी थी, किन्तु इससे मुलके हुए लोगों को यह समझने में तनिक भी दिक्कत नहीं हुई कि कांग्रेस का चुनाव-अभियान ही नहीं, विश्वास भी लड़खड़ा उठा है और भीतरी तौर पर श्रीमती गांधी तथा उनका दल निरंतर यह महसूस करने लगे हैं कि उनकी हालत खराब है।

जब कि उसी मैदान में दूसरे दिन जनता पार्टी की आमसभा ने चुनाव के राजनीतिक भविष्य का आसार दिखाना प्रारंभ कर दिया। इस आमसभा में दस लाख से ज्यादा लोग पहुंचे और उन्होंने अत्यंत शान्तिपूर्वक विभिन्न नेताओं के भाषण सुने। लोकनायक श्री जयप्रकाश नारायण के अतिरिक्त इस सभा में सर्वश्री मुरारजी देसाई, जगजीवनराम, अटलबिहारी वाजपेयी, हेमवतीनन्दन बहुगुणा आदि अनेक नेता उपस्थित थे। संभवत. दोनों ही पक्षों की ओर से अब तक प्रतिक्रियाहीन बने रहे भारतीय मतदाता की यह मौन प्रतिक्रिया थी, *जिसने प्रकट करना प्रारंभ कर दिया था कि मतदाता जनता पार्टी के साथ* है। सबसे बड़ी बात थी, इस आमसभा में श्रोताओं द्वारा विरोधियों को चुनाव लड़ने के लिए धन दिया जाना। जब मंच से यह अपील की गई कि 'हमारे पास चुनाव लड़ने के लिए पैसा नहीं है, अत. हम आपसे वोट भी चाहते हैं

और नोट भी चाहते हैं' तब कहते हैं कि लोगों ने रुपये और रेज़गारी की शक्ल में जितना बना, पैसा दिया। लगभग १ लाख तीस हजार रुपया इस आमसभा में जनता ने जनता पार्टी को दिया।

यह एक विलक्षण घटना थी और इस घटना के कारण तानाशाही के अस्वीकार की मौन घोषणा मतदाता ने कर दी थी।

अचानक कांग्रेस की रणनीति में आश्चर्यजनक बदलाव आया। निस्सन्देह ही यह बदलाव चुनाव का रुख देखकर हुआ था। ऐसे प्रमाण हैं कि भीतरी तौर पर कांग्रेस में टिकट को लेकर कांग्रेस के पूर्व-इतिहास की ही तरह 'मारामारी' चल रही थी। संजय गांधी की युवा कांग्रेस 'युवाशक्ति' के नाम पर बड़ी संख्या में टिकटों की मांग कर रही थी, जबकि बहुत-से पुराने बुजुर्ग नेताओं का विरोध भी किया जा रहा था। प्रारंभ की चुनावी शतरंज और श्रीमती इन्दिरा गांधी का व्यक्तिगत रुख, दोनों ही इस मामले में युवा कांग्रेस की ओर झुकाव प्रकट करते रहे थे। जिस तरह एक वर्ष में युवाशक्ति के नाम पर संजयवाद पनपा था, और जिस तरह सत्ता की गुप्त सहायता उसके उत्कर्ष में सहायक रही थी, उससे भी प्रकट होता था कि इस चुनाव के कांग्रेस टिकट संजयवादियों की जेब में ज्यादा जाएंगे। यही आसार थे, जिनके आधार पर युवक कांग्रेस की अध्यक्षा श्रीमती अम्बिका सोनी ने 'दिनमान' को दी एक भेंट में यह पूछे जाने पर कि "युवा कांग्रेस ने कितने स्थानों की मांग की है और विभिन्न प्रदेशों, विशेषकर दिल्ली से आपके कितने उम्मीदवार खड़े होंगे?" कहा था—"ठीक संख्या का तो पता नहीं, लेकिन उम्मीद है कि हमें काफी टिकट मिलेंगे। दिल्ली में हम कम से कम तीन-चार उम्मीदवारों को खड़ा करना चाहेंगे।"[1]

पर श्री जगजीवनराम, बहुगुणा और सतपथी के अलग होते ही, जिस तरह दल से लोग निकलने लगे, उसने श्रीमती गांधी और बरुआजी को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि उन्हें 'टिकट-प्रसादम्' की नीति पर पुनर्विचार करना होगा। इस पुनर्विचार का परिणाम था, युवा कांग्रेस के 'डिक्टेशन' का नई रणनीति के साथ ही हवा में उड़ जाना। अब नई रणनीति के अनुसार कांग्रेस के उपेक्षित बूढ़ों की कद्र शुरू हुई। इस कद्रदानी का एक कारण और भी था। यह सोचा जाने लगा था कि हर बूढ़े कांग्रेसी का

१. दिनमान, ६-१२ फरवरी, ७७

अपने इलाके में निजी प्रभाव है और अब कांग्रेस को अपनी गुडविल से ज्यादा व्यक्तियों की गुडविल पर लड़ना होगा। परिणामतः कुछ राज्यपालों को त्यागपत्र दिलवाकर चुनावी मैदान में उतारा गया, कुछ बूढ़ों को गर-जोड़ों लिया गया। हालांकि चुनावी राजनीति का एक टटपूंजिया हथकण्डा कांग्रेस ने गोहाटी अधिवेशन में भी शुरू कर लिया था, जिसके अनुसार भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को पुनः दुलराया जाने लगा था। यह दुलार इस आड़े वक्त पर काम आया (कितना आया यह तो चुनाव-भविष्य ने सामने रखा) पर कांग्रेस ने तुरत कम्युनिस्ट पार्टी के साथ चुनावी-गठजोड़ कर लिया। इस मौके पर कम्युनिस्ट पार्टी भूल गई कि थोड़ी देर पहले ही उसके अनुसार कांग्रेस में सी० आई० ए० एजेन्ट घुसे हुए थे और कांग्रेस भी भूल गई कि अबाव में उसने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का सत्य बखाना था कि स्वाधीनता-आन्दोलन में उन्होंने गद्दारी की थी। वे "तोको और न मोको ठौर"[1] वाली कहानी शुरू हुई।

गर्ज यह कि कांग्रेसी खेमे में हताशा का दौर शुरू हो गया, जबकि विरोधी जोरशोर और लगन से जनमन का प्यार अर्जित करते जा रहे थे। बहुत कुछ कारण कांग्रेस के घोषणा-पत्र का खोखलापन भी था, जिसमें 'पूर्व-उपलब्धियों का स्मरण दिलाते हुए आर्थिक विकास का आश्वासन दिया गया था। कहा गया था कि कांग्रेस पूर्व-निर्णय के अनुसार गरीबी हटाने, विषमता मिटाने और अन्याय समाप्त करने के लिए कृत-संकल्प है। मुझे स्मरण आता है कि घोषणापत्र की ये बातें या शब्द-विशेष पढ़कर मैं और मेरे तीन-चार मित्र देर तक हंसते रहे थे। हंसने का कारण था—अन्याय मिटाने, गरीबी मिटाने और पूर्व-उपलब्धियां गिनवाने वाला ब्यौरा⋯क्योंकि बीते हुए १९ माहों ने हर इस शब्द के विरुद्ध काम करके जतला दिया था कि कागज पर जितनी आसानी से शब्द लिखे जा सकते हैं, उससे कहीं ज्यादा आसानी से उन सब पर पुताई भी की जा सकती है।

हताशा का दौर ही था जो कांग्रेसी नेताओं से ऊलजलूल बातें कहलवाने लगा। उत्तेजना, उखड़ाव और आवेश में श्रीमती गांधी ने विरोधी दल पर बेतुके आरोप करने शुरू कर दिए। ठीक उसी भाषा में, जिस भाषा में इनसे पूर्व

---

१. एक मध्यप्रदेशीय कहावत, जिसका अर्थ है—दो लाचारों का समझौता, जिनमें अन्यत्र कहीं समझौता नहीं हो सकता।

श्री जयप्रकाश नारायण के अहिंसात्मक आन्दोलन से घबराकर वह कह बैठी थीं—"श्री मिश्र की हत्या एक बड़े निशाने का पूर्वाभ्यास है!" इस बार चुनाव सभाओं में वे कहने लगी थीं—"मुजीबुर्रहमान और उनके परिवार के सदस्यों के साथ क्या-क्या जुल्म नहीं हुए, क्या विरोधियों की नीयत इस देश में वही सब करने की है? और यदि है तो उन्हें यह बात खुलकर करनी चाहिए! इस तरह की बेबुनियाद बातें बर्दाश्त नहीं की जा सकतीं!"

अपरोक्ष रूप से श्रीमती गांधी एक तरह से यही प्रचार करने लगी थीं कि विरोधी उनकी हत्या करना चाहते हैं! इस उथले ढंग की बेसिर-पैर वाली बातें लोगों की संवेदनात्मक सहानुभूति जगाने के इरादे से कही जा रही थीं। परन्तु उलटा ही असर हुआ। विशेष रूप से उस स्थिति में जब विरोधी दलों के नेता उन्नीस महीने तक भयानक यंत्रणाएं भोगकर जेलों से निकले थे और उनके कई कार्यकर्ता अपनी जान खो बैठे थे। यह ऐसे ही था जैसे 'भेड़िया आया', 'भेड़िया आया' का शोर मचाया जाए।

यही नहीं, उन्होंने कहा कि जनता पार्टी की लोकतंत्र में कोई आस्था नहीं है। उसमें साम्प्रदायिक और तोड़फोड़ करने वाले तत्त्व हैं। मगर ये सारी बातें करते हुए श्रीमती गांधी यह भूल गई थीं कि १९७१ के चुनाव की तरह अब झूठे प्रचार का जादू काम नहीं करने वाला है और यह भी कि यह प्रयास करने के बाद उन्नीस महीनों की तानाशाही में भारतीय मतदाता यह तमाशा भी देख चुका था कि दमन, हिंसा, आतंक और अन्याय में किसका विश्वास है। कुल मिलाकर यह कि इस बार कांग्रेस के पास अपने विरोधी को काटने के लिए न कोई तर्क रह गया था, न कोई कारण और न ही कोई प्रमाण। इसके विपरीत विरोधियों के पास कहने के लिए बहुत कुछ था और जनता को समझाने के लिए बहुत कुछ था।

श्रीमती गांधी ने २८ फरवरी को बिहार में अपनी चुनाव-सभा में कहा—"आज जो लोग हमपर तानाशाह होने का आरोप लगा रहे हैं, वे एकदम झूठी और बेबुनियाद बातें कर रहे हैं। यदि यह बात सच होती तो आज चुनाव नहीं होते। चुनाव करवाने का मतलब ही है कि लोकतंत्र में हमारी आस्था है।"

किन्तु श्रीमती गांधी इस सत्य को कैसे नकार सकती हैं कि हर तानाशाही की बुनियाद लोकतंत्रीय विश्वास को लेकर ही पड़ती है। जर्मनी के तानाशाह एडोल्फ हिटलर का जर्मनी की सत्ता में आगमन एक लोकतंत्रीय पद्धति से ही हुआ था। उसने सत्तारूढ़ होते ही क्रमशः तानाशाही व्यक्तित्व उजागर किया

और उसपर जनता की स्वीकृति-मोहर लगवाने के लिए लोकतंत्र का आडम्बर बनाए रखा। यही नहीं, हिटलर ने क्रमशः १९३४, १९३६, १९३८ और १९३९ में आमचुनाव करवाकर अपनी तानाशाही सत्ता को लोकतंत्रीय सरकार का जामा पहनाए रखकर जन-स्वीकृति प्राप्त की थी। इस ऐतिहासिक सत्य के बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी का तर्क एकदम थोथा साबित हो जाता है कि वह तानाशाह नहीं है।

कांग्रेस प्रारंभ से ही सत्ता में रही थी अतः प्रचार-पक्ष की दृष्टि से उसके पास सर्वाधिक साधन थे। ये साधन पिछले चुनावों में हमेशा ही कारगर सिद्ध हुए थे। शक्तिशाली आर्थिक बुनियादवाली इस संस्था के साथ प्रचार की वे सभी सुविधाएं उपलब्ध थीं, जो दूसरे दलों के पास कभी भी नहीं रही थीं। पर इस चुनाव में प्रचार की साधनहीनता के बावजूद जनता पार्टी का जितना जोर देखा गया, उतना पिछले चुनावों में कांग्रेसी प्रचार और सत्ताशक्ति के बावजूद नहीं देखा गया। चुनाव के नतीजों ने भी यह साबित कर दिया कि अब जन-चेतना प्रचार के आधार पर निर्णायक बुद्धि नहीं बनाती। गणेश मंत्री ने अपने एक लेख में[1] लिखा—"१९७७ के चुनाव-परिणामों ने कम से कम हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में एक बात और स्पष्ट की है। यह कि सिर्फ प्रचार के बूते पर लोगों का मन नहीं जीता जा सकता।"

गत चुनावों में प्रचार के बल-बूते पर बहुत-से राष्ट्रनेताओं की तसवीर धुंधली करने की कोशिशें की गई थीं और कुछ हद तक सफल भी रही थीं, किन्तु इस बार वह स्थिति नहीं रही। मंत्री ने इसी लेख में आगे लिखा—"पूरी आपातस्थिति के दौरान लोकनायक जयप्रकाश नारायण, सर्वश्री जार्ज फर्नांडिस, अटलबिहारी वाजपेयी और अन्य प्रमुख विरोधी नेताओं के विरुद्ध एकतरफा धुआंधार प्रचार हुआ, पर आपातस्थिति में ढील मिलते ही यह स्पष्ट हो गया कि सारे प्रचार से लोकनायक जयप्रकाश नारायण तथा उनके अन्य सहयोगियों-नेताओं की प्रतिभा धुंधली नहीं हुई है, वस्तुतः वह पहले से अधिक उज्ज्वल हो गई है।"

यहां यह उदाहरण दे देना भी आवश्यक है कि व्यक्तिगत रूप से राजनेताओं को किस तरह इन्दिरा सरकार के चापलूस लोग बदनाम करने में लगे हुए थे। 'नया जीवन' में टिप्पणी करते हुए उसके सम्पादक ने लिखा—"जार्ज

---

१. धर्मयुग, ३ अप्रैल, १९७७

दिया है कि क्या जनता पार्टी तथा कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी के पास कोई रचनात्मक कार्यक्रम भी है या उसके अस्तित्व का आधार केवल विरोध है ! यदि जनता पार्टी का आधार केवल विरोध है तो वह विरोध की बेंचों पर ही क्या बुरी है ? उसे सत्ता में क्यों भेजा जाए ? वास्तविकता यह है कि सत्ता की अपनी शर्तें होती हैं, जिनसे कांग्रेस पार्टी ज़्यादा अच्छी तरह परिचित है।"

यही 'दिनमान' (२७ मार्च-२ अप्रैल का अंक) सम्पादकीय में प्रकाशित करता है—"१९ महीने के दमन के विरुद्ध जनता ने दलों को एक होने और कांग्रेस का विकल्प देने को बाध्य किया। वे एक हुए क्योंकि उन्होंने वक्त का तकाज़ा पहचाना…" मुझे लगता है कि सामान्य जन और तीव्र घटनाभेदी दृष्टि की पत्रकारिता में यही अन्तर है कि अगर जनता १९ महीने के दमनचक्र में 'वक्त का तकाज़ा' पहचानी तो 'दिनमान' ने सिर्फ मार्च महीने-भर में (यानी २७ फरवरी और २७ मार्च के बीच) 'वक्त का तकाज़ा' पहचान लिया।

'वक्त के तकाज़े' की पहचान का कमाल यह है कि वही 'दिनमान', जिसके अनुसार २७ फरवरी के अंक तक कहने के लिए ये शब्द थे— "'सत्ता की अपनी शर्तें होती हैं, जिनसे कांग्रेस पार्टी अच्छी तरह परिचित है या कि जनता पार्टी और कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी का कार्यक्रम निषेधात्मक है अचानक बदलकर ३ अप्रैल के अंक में नियमानुसार हो गए—आज़ादी के बाद पहली बार ऐसा हुआ है कि देश की 'लोकशाही' को लोकसत्ता में सही प्रतिनिधित्व मिला है। या जनता पार्टी के विशाल समूह में निश्चित ही ऐसा माननेवालों की कमी नहीं है, जो कहते हैं कि लोकशाही की स्थापना के लिए निहित स्वार्थों से लड़ाई की सच्ची शुरुआत अब हुई है।

यह सचमुच एक तकलीफदेह सच है कि औसत हिन्दी समाचारपत्र 'वक्त के तकाजे' के अनुसार लिखते-छपते रहे। इस क्रांतिकारी लड़ाई को, जिसे आज क्रांति के रूप में ढोल बजा-बजाकर वही लोग गुना रहे हैं, कभी इसीको केवल अराजकता और देशघाती षड्यंत्र निरूपित करते रहे थे। यह एक कड़वा सच है कि इस क्रांति के गौरवशाली इतिहास में स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी या रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसा कोई भी नाम नहीं है। इसका सेहरा बुद्धिजीवी के सिर नहीं, बल्कि उस तथाकथित 'अशिक्षित' के सिर है, जिसे बुद्धिवाद के थोथे दर्प में हमेशा ही उपेक्षित किया जाता रहा है। यही नहीं, इस क्रांति ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि निरक्षर होने का मतलब अशिक्षित होना नहीं होता। शिक्षा किताबों से नहीं, सिद्धांतों, विचारों और

संस्कारों से मिलती है। और इसी कठोर यथार्थ की देन था वह माहौल जिसे इन्दिराजी और उनकी कांग्रेस चुनाव में झेल रही थी।

इस चुनाव ने बहुतों के चेहरे उजागर किए। विशेषकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का वह चेहरा जिसपर कहावत लागू होती है—मुंह में राम बगल में छुरी। इस पार्टी ने अपने घोषणा-पत्र में बड़ी दोहरी बातें की और मुझे लगता है कि उनके दोहरेपन को इन बातों से ही खूब अच्छी तरह समझा जा सकता है और शायद चुनाव में समझा भी गया। कम्युनिस्ट पार्टी ने दावा किया कि उसने सदा ही नकारात्मक प्रवृत्तियों का विरोध किया है। मुझे खूब याद है कि आपातकाल लागू करने बाद भारतीय कम्युनिस्ट ही थे, जो आगे बढ़कर कह रहे थे—यही सही है। यही होना चाहिए था। दल ने प्रजातांत्रिक शक्तियों के विरुद्ध विभिन्न कानूनों के उपयोग का विरोध किया, यह भी घोषणा-पत्र में कहा गया था, जब कि यही दल था जिसने संविधान में संशोधन ही नहीं, उसमें आगे बढ़कर सम्पूर्ण संविधान को ही समाप्त करके 'नव रचना' का नारा लगाया था। घोषणा-पत्र ने जनता को सूचना दी कि अनेक राज्यों में उसके कार्यकर्ता जेलों में पड़े हैं। यह बहुत बड़ा झूठ था। सच तो यह है कि श्रीमती गांधी की तानाशाही कम्युनिस्ट पार्टी के कन्धों पर चढ़कर ही सारे देश में घूम रही थी। अपने कन्धों को भला कांग्रेस कैसे काट सकती थी और जब संजय गांधी ने यह गलती की तो तुरन्त 'वक्त का तकाजा' समझकर कांग्रेस ने चुनाव-अवसर पर उसे सम्भाल लिया हालांकि यह दोस्ती भी कांग्रेस को कम महंगी नहीं पड़ी।

कांग्रेस और कम्युनिस्टों में सीटों का बटवारा बड़ी रूठा-राठी के बाद हुआ और जिस तरह हुआ, वह भी अपने-आपमें विचित्र था। चुनाव के दिनों में मध्य-प्रदेश के उत्तरी क्षेत्र के बहुत-से गांवों-शहरों में रहा और मैंने कांग्रेस-कम्युनिस्ट-दोस्ती का चमत्कार-दर्शन भी किया। ग्वालियर की लोकसभा सीट पर समाजवादी और गरीबपरस्त कांग्रेस ने इंटक के एक नेता को (जिन्हें बिरलाजी का भरपूर स्नेह-सहयोग प्राप्त बताया जाता है) अपना उम्मीदवार बनाया था। चूंकि उक्त कांग्रेसी उम्मीदवार मजदूर नेता था, अतः कम्युनिस्टों ने तुरंत अपना उम्मीदवार अड़ा दिया। जब मैंने यह जानकारी की कि ऐसा क्यों हुआ है और 'दोस्ती' में यह किस तरह का न्याय है तो एक कम्युनिस्ट ने बतलाया, यह तो हमारे अस्तित्व का प्रश्न है साहब! ... लेबर यूनियन में हम लोग कांग्रेस को समर्थन देने लगे तो हम ही दब

मेरा प्रश्न था, "क्या इसपर कांग्रेस पक्ष से एतराज़ नहीं हुआ ?"

"हुआ होगा, पर यह हमारा फैसला था !"

"मगर सोचिए, आप लोग आपस में एक-दूसरे के वोट काट लेंगे तो जनता पार्टी का उम्मीदवार जीत जाएगा !"

"जीत जाए !" उपेक्षा से वह कम्युनिस्ट बोला, "कम से कम लेबर यूनियन में तो एक असर रहेगा कि साहब कम्युनिस्ट अलग हैं, कांग्रेस अलग हैं। अगर कांग्रेस को अपना उम्मीदवार जिताना था तब यूनियन के आदमी को टिकट न देती।"

"पर यह तो बिल्लीवाली मसल हुई।" मैंने कहा, "खाए नहीं तो लुढ़का ही दे।"

"यही समझ लीजिए !" उन्होंने उत्तर दिया और चलते हो गए।

तो यह थे तानाशाही के कन्धे, जिनपर केवल मीठे वायदों, ऊपरी वक्तव्यों और दोस्ती के इज़हारों का मक्खन लगा हुआ था जिसपर सवार होकर हर कदम के साथ कांग्रेस फिसलती रही थी। पर इस चुनाव में कन्धे रोल तो अदा कर रहे थे, किन्तु अर्थी के लिए।

चुनाव-वातावरण में जैसे-जैसे तेज़ी आती गई और कांग्रेस ने महसूस किया कि १९७१ की "इन्दिरा गांधी (आंधी) अब काम नहीं कर पा रही है, तब छोटे से बड़े नेताओं तक ने हल्की और सस्ती भाषा में ओछे आरोप लगाने शुरू कर दिए। इसका मतलब यह बिलकुल नहीं है कि ओछी बातों का उपयोग जनता पार्टी या और दलों की ओर से नहीं हुआ, किन्तु यहां मैं केवल यही कहना चाहता हूं कि हल्के स्तर पर अगर हल्की बात होती है तो वह इसलिए क्षम्य है क्योंकि उस तरह की बात करनेवाला एक महत्त्वहीन या नामहीन आदमी होता है। किन्तु जब इस तरह की बात अखिल भारतीय नेता स्तर पर होती है तो निस्सन्देह ही एक बुरी बात है। उत्तेजित और बौखलाए हुए बंसीलाल ने तो यहां तक कह डाला कि जगजीवनराम दो कौड़ी का आदमी है। उत्तर में जगजीवनरामजी ने भिवानी (हरियाणा) पहुंचकर एक जनसभा में कहा—**श्री बंसीलाल कहते हैं कि जगजीवनराम दो कौड़ी के आदमी हैं, सो मैं उनके चुनाव-क्षेत्र में यह देखने जा रहा हूं कि बंसीलाल कितने करोड़ के आदमी हैं।** कुछ-कुछ इसी तरह की बातें लोकनायक जयप्रकाश नारायण, मुरारजी देसाई, अटलबिहारी वाजपेयी आदि के बारे में कांग्रेस के बड़े नेता जनता के बीच करते रहे, परिणाम हुआ लोगों पर यह असर कि अब कांग्रेस जैसी पुरानी

और आदर्शवादी संस्था अपना विगत भूलकर छिछोरपन पर उतर आई है। जब कि विरोधी नेता पूर्णतः संयत थे। मुझे दिल्ली में हुई 'बोट क्लब' की एक आमसभा में दिया गया श्री अटलबिहारी वाजपेयी का भाषण याद है, जिसमें उन्होंने अपनी सभा से कुछ देर पहले ही समाप्त हुई श्रीमती गांधी की आमसभा के बारे में यह सुनकर कि लोगों ने हुल्लड़बाज़ी की थी, जनता को फटकारा। उन्होंने कहा कि यदि आप कांग्रेस की सभा को सुनना नहीं चाहते, तब उन सभाओं में आपको नहीं जाना चाहिए। अगर यदि आप जाते हैं, तब आपको उस सभा में विघ्न नहीं डालना चाहिए। आगे ऐसी कोई बात हुई तो मैं अनशन करूंगा। श्री वाजपेयी ने अपरोक्ष रूप से यह भी चेतावनी दी कि विरोधी के लिए जनता का ऐसा उत्तेजनापूर्ण समर्थन एक स्थिति पर आकर उन्हींको (विरोधियों को) बदनाम करने लगता है, जिनका समर्थन करनेवाला है। श्री वाजपेयी ने जिस तरह लोगों को लताड़ पिलाकर सही नागरिक कर्तव्य पालन के लिए कहा, उस सबको सुनते हुए भी श्रोता शांत बैठे रहे। उन्हें भूल का अहसास भी हुआ होगा, किन्तु वाजपेयीजी की बात और शिष्ट सलाह के प्रति सम्पूर्ण आस्था और विश्वास रखते हुए मैं यह कहना चाहूंगा कि ऐसी स्थितियां लोकतंत्र में पैदा करने का दोषी कौन है? यदि लोग हुल्लड़बाज़ी करते हैं, वैचारिक विरोध को व्यक्तिगत विरोध बनाकर टीका-टिप्पणी प्रारंभ करते हैं तो इन संस्कारों का दाता कौन होता है? मुझे लगता है कि जब जन-मंच पर खड़े होकर नेता ही हल्की बातें करते हैं, तब उस तरह की हल्की प्रतिक्रिया को कैसे रोका जा सकता है। जनता से पहले इस कटु सत्य को नेताओं द्वारा पहचाना और समझा जाना ज़रूरी है।

प्रचार की इस स्थिति का एक पहलू और था—ज़िम्मेदार लोगों द्वारा गैरज़िम्मेदाराना बातें करना। मतदाता का रुख देखकर बौखलाहट में इस तरह की बातें कांग्रेसपक्ष में ज़्यादा हो रही थीं और वातावरण को उनके अपने ही विरुद्ध बनाती जा रही थीं। कांग्रेस अध्यक्ष श्री देवकान्त बरुआ ने बीच में घोषणा कर डाली कि कांग्रेस संसदीय दल की नेता श्रीमती गांधी ही होंगी। इस घोषणा ने न सिर्फ श्रीमती गांधी के व्यक्तित्व को चोट पहुंचाई, बल्कि एक तरह से गवाही ही दे डाली कि कांग्रेस संस्था भीतर से उसी तरह की तानाशाही झेल रही है, जैसी कुछ दिनों पहले देश झेल चुका है। सामान्यतः मैंने उस समय लोगों को इस वक्तव्य पर मज़ाहिया टिप्पणी करते सुना-देखा। कुछ लोग कहते थे कि किसी लोकतांत्रिक दल का अध्यक्ष बिना चुनाव हुए, ऐसी

घोषणा कैसे कर सकता है, और कुछ लोग कहते थे कि बरुआजी एक अस्तित्व-हीन अध्यक्ष हैं, जो श्रीमती गांधी की कठपुतली बने हुए हैं। उनका तर्क था कि यदि ऐसा न होता तो श्री बरुआ यह क्यों कहते—मैं जब भी कोई निर्णय लेता हूं तो श्रीमती गांधी की सलाह पर ही लेता हूं! यह बहस की बात है कि श्री देवकांत बरुआ किन शब्दों में और किस तरह बात करना या कहना चाहते थे और वह किस तरह लोगों तक पहुंची, पर इतना सच है कि बड़े-बड़े नेता आवेश में वह बोलते रहे, जिसे बोलने की आवश्यकता नहीं थी। और जैसाकि होता है, ज्यादा बोलना, ज्यादा खतरनाक है, कांग्रेसियों के साथ हुआ। तिस पर कई-कई नेता जनता से हाथ जोड़कर माफीनामा भी पेश करने लगे कि इमरजेंसी में जो गलतियां और ज्यादतियां हुई हैं, उनके लिए उन्हें क्षमा कर दिया जाए!

इस तरह के माफीनामों और हाथजुड़ाई ने मतदाता के सामने उनको निश्चित तौर पर अपराधी साबित कर दिया। विरोधी मंच से कांग्रेस को लेकर जब-जब जितना कुछ कहा गया था, वह प्रमाणित हो गया। सरकारी स्तर पर यह घोषणाएं भी हुई कि आपातकाल में जो-जो ज्यादतियां हुई हैं, उनकी जांच की जाएगी तथा दोषी व्यक्तियों को दंडित किया जाएगा!

लोगों के सोचने का रुख बदला। एक नया तर्क उनके दिमाग में आया कि उन्हें राजनीतिक रिश्वत दी जा रही है और उनसे किसी तरह वोट हथियाने का प्रयत्न हो रहा है। कुछ लोग तर्क करते सुने जाते थे कि कांग्रेस सरकार ने इससे पहले इस तरह का वक्तव्य क्यों नहीं दिया?

इस तरह के आश्वासन जनसभाओं में स्वयं श्रीमती गांधी ने ही नहीं, कई कांग्रेस नेताओं ने दिए और यह प्रमाणित हो गया कि ज्यादतियां हुई हैं। जनता के जिस बड़े वर्ग से 'सेंसर' की ताकत के कारण ज्यादतियां छिपी हुई थीं, उसने उन्हीं लोगों के मुंह यह स्वीकार सुना कि ज्यादतियां हुई हैं। तब भुवनेश्वर की आमसभा में श्रीमती गांधी का यह कहना कि विपक्ष झूठ बोलता है—एकदम बेतुका हो गया।

श्री संजय गांधी ने बेहद हल्के और बचकाना शब्दों का प्रयोग करते हुए सुल्तानपुर की एक आमसभा में कह डाला कि जनता पार्टी एक ऐसा रथ है, जिसे चार घोड़े नहीं, बल्कि चार गधे खींच रहे हैं और बहुत-सी छोटी-मोटी पार्टियां उनसे कीड़ों की तरह चिपटी हुई हैं। इस टिप्पणी का परिणाम हुआ गंभीर और शिष्ट लोगों के दिमाग में एक आशंका का आ जाना कि कांग्रेस ने जिस रूप में संजय गांधी को उठाया है और एक तरह से बादशाहत के उत्तरा-

धिकारी या 'शहजादा' बना रखा है क्या इसी तरह की शब्दावली में यह देश का नेतृत्व करेंगे ! आश्चर्य और दुख की बात है कि कांग्रेस संस्था में बैठे तीस साला राजनीतिक कैरियरवाले लोग चुपचाप यह सब सुनते रहे, किन्तु किसीने हिम्मत न की कि संजयजी को इस तरह की भाषा का प्रयोग करने से रोकें। स्थिति यहां तक पहुंची कि वे लोग, जो कभी संजय गांधी को उठाए-उठाए घूम रहे थे और 'वाह सरकार' 'जी गरीबपरवर' कहते थे, इस कोशिश में लग गए कि संजयजी की चुनाव-यात्रा में कहीं उनका चुनाव स्टेशन न आ जाए। यही कारण था कि चुनाव के बाद एक बड़े कांग्रेसी नेता ने कहा कि संजय गांधी के दौरों ने भी हर उस इलाके में कांग्रेस उम्मीदवार का प्रभाव खराब किया, जहां-जहां वह जाते रहे। बंसीलाल की भी यही स्थिति थी। उम्र, पद, कार्य सभीको भूलकर वह आमसभाओं में ऐसी उत्तेजित और असन्तुलित भाषा का उपयोग कर रहे थे कि मतदाता भड़क जाता था। हरियाणा के एक बड़े नेता ने फरमाया—"एक केन्द्रीय नेता हरियाणा में जब-जब पहुंचे, तब-तब कांग्रेसी उम्मीदवार के दस हजार वोट कम हो गए।"

१३ अप्रैल के 'टाइम्स आफ इण्डिया' ने लिखा—"हरियाणा के मुख्यमंत्री श्री बनारसीदास गुप्त ने कहा कि केंद्रीय नेता की मांग थी कि उनकी हर सभा में कम से कम एक लाख श्रोता होने चाहिए। इन श्रोताओं को एकत्र करने की कोशिश में हमें कई लोगों को नाराज करना पड़ा। जिनमें पुलिसवाले, सरकारी अफसर और ठेकेदार थे। उनकी गाड़ियां कांग्रेस दल के लिए उपयोग करनी पड़ीं।"

राजा-महाराजाओं को लेकर कांग्रेस पिछले दस सालों से शोर मचाती रही थी कि उनके प्रिवीपर्स गलत है और समाजवाद में सामन्तवाद की कोई गुंजाइश नहीं है। सामन्त जननेता नहीं होता, किन्तु देखा गया कि इस चुनाव में बहुत-से कांग्रेस टिकिट उन राजा-महाराजाओं को ही गए है या फिर उन्हें स्वतंत्र प्रत्याशी के रूप में कांग्रेस पार्टी समर्थन दे रही है। रीवानरेश मार्तण्ड सिंह, ग्वालियर के महाराजा माधवराव सिन्धिया, महाराजा देव, कई नाम लोगों के सामने थे। एक महाराजा के चुनाव-क्षेत्र में तो मैंने देखा कि कांग्रेस और इन्दिराजी के अधिनायकवाद की विरोधी लहर पाकर महाराजा ने कांग्रेस समर्थित होते हुए भी जनता के सामने गिड़गिड़ाना शुरू कर दिया कि नहीं-नहीं कांग्रेस से उनका कोई लेना-देना नहीं है। सच तो यह है कि कांग्रेस उनके न चाहने पर भी जबरदस्ती उनका समर्थन कर रही है ! इस तरह की स्थितियों के कारण भी कांग्रेस की मद हुई।

श्री मुरारजी देसाई ने 'ब्लिट्ज़' के सम्पादक आर० के० करंजिया को एक भेंट देते हुए कहा था—"अगर हमारी खिचड़ी है तो उनका खिचड़ा है !" यह श्री देसाई ने उस समय कहा था जब करंजिया ने उन्हें बतलाया कि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने जनता पार्टी को लेकर कहा है—"...नई सरकार खिचड़ी सरकार होगी !" उपर्युक्त दोनों ही बातें सामान्य व्यक्ति के लिए सहज भाव से सुन या पढ़कर टाल देने वाली हैं कि ऐसी टीकाटिप्पणी तो परस्पर चलती ही रहती है. किन्तु गभीरतापूर्वक सोचा जाए तो मुरारजी भाई का सहज भाव से कांग्रेस को खिचड़ा कह देना, काफी गंभीर अर्थ रखता है। खीझ, झल्लाहट, उत्पात की बेचैनी और उत्तेजना में कांग्रेस ने इस चुनाव के दौरान जो कुछ तालमेल बनाया वह विचित्र था। जैसे भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी से चुनावी समझौता, राजाओं को टिकिट या समर्थन, फिल्म अभिनेताओं के नाच-गाने, भाषण, मनोरंजन, हिन्दू धर्मगुरुओं का इन्दिराजी के लिए समर्थन-विज्ञापन, जनता से माफीनामे, ऊलजलूल वक्तव्यबाजी, बेहूदा उदाहरण, कांग्रेस की विजय न होने पर विदेशी आक्रमण के खतरे बताना, विरोधी दलों के हजारों कार्यकर्ताओं को देर तक जेलों में डाले रखना और अपने-आपको देश की राजनीतिक स्थिरता का अकेला वारिस घोषित किए जाना...ऐसी बातें थीं; जिनके कारण किसी बार स्पष्ट नहीं हो सका कि कांग्रेस का रूप क्या है या किन लक्ष्यों को लेकर वह देश को सुशासन देगी ? लोकतंत्र जीवित रख पाने का तो प्रश्न ही नहीं बचा था, क्योंकि गत १९ महीनों में कांग्रेस कितनी लोकतंत्रवादी रह गई है, इसका प्रमाण जनता को खूब मिल चुका था।

इसी बीच एक नई बात और हुई। श्रीमती गांधी ने एक चुनाव-सभा में भाषण करते हुए अपनी और अपने परिवार की देश-सेवाओं का वर्णन करना शुरू कर दिया। उन्होंने कहा —"इस परिवार के सभी लोग जनता के सेवक हैं। शायद ही ऐसा कोई परिवार हो, जिसने देश को इतना दिया हो—केवल जनसेवा के ही रूप में नहीं, भौतिक दृष्टि से भी। तमाम लोग मंत्री बने हैं, लेकिन शायद मैं ही ऐसी हूं, जिसने राष्ट्र को अपना मकान तक समर्पित किया है। अब मेरा कोई निजी मकान नहीं है। मेरे दोनों पुत्र ठोस काम में दिलचस्पी लेते हैं। मेरे पति भी उसी तरह के थे।"

लोग हैरान हो गए। क्या अब राजनीतिक मुद्दों और संस्था के कार्यक्रम को परे कर केवल इस आधार पर श्रीमती गांधी वोट मांग रही हैं कि उनके परिवार ने और उन्होंने देश के लिए उतना किया है, जितना किसीने

नहीं किया ! ' एक बात तो यहाँ सही नहीं थी कि नेहरू परिवार ने जितना किया, उतना किसीने नहीं किया। इस तरह श्रीमती गांधी ने "शायद ही ऐसा **कोई परिवार हो, जिसने देश को इतना दिया हो"** कहकर एकसाथ हज़ारों क्रांतिकारियों और देशभक्तों के किए-धरे पर पानी फेर दिया और स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू के यश को भी हल्का कर दिया। सुलझे हुए लोगों ने श्रीमती गांधी जैसी उच्चपदस्थ नेता के मुंह में इतनी हल्की बात को पसन्द नहीं किया। निस्सन्देह भारतीय मतदाता को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं थी कि नेहरू परिवार ने देश के लिए क्या कुछ किया है।

बेचैनी में इन्दिराजी यहां तक कह गईं कि वे चाहतीं तो चुनाव को और टाल सकती थीं, किन्तु उन्होंने आमचुनाव कराकर यह साबित कर दिया है कि उन्हें लोकतन्त्र पर विश्वास है। बार-बार दिया गया यह भी एक अनावश्यक वक्तव्य था। क्या एक लोकतन्त्रवादी को यह प्रमाणित करने के लिए कि वह लोकतन्त्रवादी है, प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता होती है ? कुल मिलाकर श्रीमती गांधी और उनकी कांग्रेस का सारा चुनाव-प्रचार या तो विरोधियों पर ऊलड़-खाबड़ किस्म के आरोप रहे या अपनी सफाई देते रहना-भर रह गया। चुनाव-घोषणा को लेकर श्रीमती गांधी ने अपने लोकतन्त्रवाद की जो दुहाई दी, उसे जनता पार्टी के नेता श्री चन्द्रशेखर ने एक उत्तर में साफ कर दिया। श्री चन्द्रशेखर ने कहा—"चुनाव कराना जनता पर किसी तरह का एहसान करना नहीं है, बल्कि वोट देना तो भारतीय मतदाता का अधिकार है, जिसे उसने महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक लम्बी लड़ाई के बाद प्राप्त किया है। भारतीय जनता अपना यह अधिकार कभी नहीं छोड़ सकती।"

कांग्रेस ने वोट-प्राप्ति के लिए क्या कुछ हथकण्डे नहीं अपनाए, किस तरह सत्ता का दुरुपयोग नहीं किया, इसका एक और उदाहरण देता हूं। इस उदाहरण का यह मतलब निश्चित ही नहीं है कि मैं जनता को रियायतें देने का विरोध कर रहा हूं, बल्कि मेरा कुल अभिप्राय यह है कि किसी खास समय पर, खास तरह घोषित की गई रियायतें, रियायतें न होकर उपहार के रूप में उपयोग की जाने लगती हैं। हालांकि इस चुनाव ने यह भी सिद्ध कर दिया कि अब किसी भी किस्म की 'रिश्वत' मतदाता की समझ को बरगलाने की स्थिति में नहीं रही है।

मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और बिहार की सरकारों ने चुनाव/ दौरान जनता के लिए कुछ रियायतें या विशेष सुविधाएं घोषित कीं।

मध्य प्रदेश सरकार ने प्रदेश लोकसेवा आयोग के गैर सरकारी सदस्यों की पेंशन रकम २५० रुपये से बढ़ाकर ५०० रुपये कर दी, जब कि यह पेंशन सन् १९७५ के जुलाई मास से लागू की गई। आदिवासियों को उनके अपने घरों में महुआ आदि मादक वस्तुएं जमा करने की सुविधा दे दी गई।

हेड क्लर्कों का वेतनक्रम १९५-३३० से बढ़ाकर २२० से ३७५ कर दिया गया और यह क्रम लागू हुआ जनवरी १९७७ से।

अतिरिक्त जिला और सेशन जजों का नया वेतनक्रम निर्धारित हुआ, जिसके अनुसार यह क्रम जनवरी १९७२ से लागू हुआ। वेतन-क्रम है—९५० से १४५० रुपये। इस निर्णय के अन्तर्गत इस वेतन-क्रम का लाभ उन सिविल जजों पर भी लागू होता है जो पदोन्नति पाकर अतिरिक्त और जिला सेशन जज बन चुके हैं।

स्वाधीनता-संग्राम के सेनानियों के १८ वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए निःशुल्क चिकित्सा सेवा की सुविधा दी गई। पहले यह सुविधा केवल उन्हीं सेनानियों की पत्नी, माता-पिता या आश्रितों को प्राप्त थी, जिनकी मासिक आय ३५० रुपये से कम थी। नये निर्णयानुसार आय-सीमा का बन्धन तोड़ दिया गया था।

पोहा या मुरमुरा बनाने के धान से 'क्रय-कर' समाप्त कर दिया गया।

राजस्थान के मुख्यमंत्री ने एक घोषणा के तहत कोटा के ३०००० मकान मालिकों को ३० लाख रुपये के टैक्स की माफी दी।

उत्तरप्रदेश में असिंचित कृषि भूमि पर प्रति हैक्टेयर लगान का दर १२ रुपये ५० पैसे से २५ रुपये तक था, जिसे नये आदेश में घटाकर आधा कर दिया गया। इसी तरह की विशेष सुविधा सिंचित भूमि पर भी दी गई। ऐसी भूमि के मालिकों को मौजूदा लगान की जगह अब आधी दर पर लगान देना था। राज्य सरकार को लगान से प्रति वर्ष ४२ करोड़ रुपये मिलते थे। उक्त घोषणा उत्तरप्रदेश के कांग्रेसी मुख्यमंत्री ने १६ फरवरी, १९७७ को लखनऊ में की थी।

बिहार सरकार ने अपने एक निर्णय में कहा कि राज्य-कर्मचारियों को १ मार्च से प्रतिमाह ८ रुपये ४० पैसे चिकित्सा भत्ता मिला करेगा।

८० हजार चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों की पदोन्नति का रास्ता खोल दिया गया।

माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों को सन् १९७४ में हुई हड़ताल के दौरान

का वेतन दिया जाना तय हुआ। इस निर्णय के अनुसार शिक्षा महकमे को आदेश हुए कि उक्त राशि का भुगतान १ मार्च तक कर दिया जाता है।

बिजली पर से ३ पैसे प्रति यूनिट का अतिरिक्त कर-भार उठा लिया गया।

किसानों से कर्ज की वसूली का समय ३१ मार्च से बढ़ाकर ३० जून कर दिया गया। इस अवधि का ब्याज न लेना भी घोषित हुआ।

१ मार्च, १९७७ में राज्य सरकार पर ५० लाख रुपये का अतिरिक्त व्यय-भार लेते हुए निर्णय हुआ कि यू० डी० सी०, एल० डी० सी० तथा विभिन्न श्रेणियों के टाइपिस्टों, स्टेनो टाइपिस्टों आदि को एक ही श्रेणी में करते हुए एक वेतन-क्रम रखा जाए।

१ जनवरी, १९७७ से बिहार में ५०० रुपये वेतन पाने वालों को १२ रुपये प्रतिमाह और १२५० रुपये वेतन पाने वालों को ३६ रुपये प्रतिमाह अतिरिक्त महगाई भत्ता प्रदान किया गया।

उपर्युक्त सभी निर्णय बिहार सरकार ने फरवरी के अन्तिम सप्ताह में लिए।

दिल्ली नगर निगम ने फरवरी के पहले सप्ताह में कुछ निर्णय लिए, जिनके अनुसार कुछ शर्तों के तहत जून १९७५ से पहली बनी अधिकृत बस्तियों को अधिकृत कर दिया गया।

तांगा, रेढा, खरखरा पर ३६ रुपये की जगह केवल १८ रुपये कर निश्चित हुआ। सालाना १०० रुपये सर्विस चार्ज से भी उन्हें मुक्त घोषित किया गया।

कुछ राहतें बैलगाडी, भैंसागाडी, और ठेलेवालों के लिए भी दी गई।

गर्ज यह कि फरवरी और मार्च के भीतर-भीतर जनता को सुविधाओं या रियायतों के टुकड़े फेंककर 'पटाने' की कोशिश की गई, पर ऐसा करते समय कांग्रेस भूल गई कि उसने तानाशाही में जनता को पर्याप्त शिक्षित कर दिया है और वह प्रलोभनों पर अधिकार-शक्ति का दान करनेवाली नहीं है।

हदबन्दीहीन नसबन्दी

'नवभारत टाइम्स' के ७ जनवरी, १९७७ के अंक में मैंने एक समाचार पढ़ा था। मालूम नहीं, इसे डबल कालम में प्रकाशित करके संपादकजी जनता

और दबाव पड़ा तो किसी भी तरह निर्धारित समय में निर्धारित कोटा पूरा कर लेने की जल्दी हुई। इस जल्दी में यह कार्यक्रम लोगों को मानसिक तौर पर शिक्षित करके उससे लाभ उठाने का कार्यक्रम न रहकर आतंक, भय, और ज़ोर-ज़बरदस्ती से सम्पन्न कर लेने का कार्यक्रम बन गया। अजीबोगरीब घटनाएं होने लगीं और बिना उसके दुष्परिणाम सोचे हुए अधिकारी निरंतर लक्ष्य पूरा करते गए।

कुछ घटनाएं बयान करता हूं। एक शिक्षिका से मेरी भेंट हुई। विधवा युवती थी वह। इस युवती को आदेश दिया गया था कि कैसे भी २ केस लाकर दे। वह समझ नहीं पा रही थी कि कैसे ला सकेगी? साधारण पढ़ी-लिखी और गांव में काम करनेवाली पुराने खयालों की युवती और जिस वातावरण से उसे दो 'केस' लाकर देने थे, वह भी एकदम पुरातनपंथी। बोली, "मेरी समझ में नहीं आ रहा है भाई साहब, किसीसे क्या कहूं? कैसे समझाऊं? मैं उस तरह की बात कह नहीं सकूंगी। कहूंगी तो न सिर्फ मेरा मज़ाक उड़ेगा, बल्कि हो सकता है गांव में मेरा विरोध ही शुरू हो जाए। मेरी तो यह हालत है कि इधर जाऊं तो कुआं, उधर जाऊं तो खाई।"

"तुम अपने अधिकारियों को क्यों नहीं बतलातीं अपनी लाचारी?"

"उन्हें भी क्या बतलाऊं? वह बेचारे तो 'ऊपर के हुक्म' से लाचार हैं।" निराश स्वर में युवती ने उत्तर दिया था, "लगता है यह न करवा सकी तो सस्पेंड हो जाऊंगी। हमारे यहां कई टीचरों का बुरा हाल हुआ है। किसी-की तनख्वाह रुकी पड़ी है, किसीका इन्क्रीमेंट।"

मालूम नहीं उसका क्या हुआ होगा।

एक और महाशय मिले। खुश थे, "साहब, मैं तो कन्फर्म हो गया! मेरे साथवाले सब धरे हुए हैं।"

"वह कैसे? तुम तो अभी एक महीना हुए नौकरी में लगे थे?" मुझे आश्चर्य हुआ था। खास तौर से इसलिए कि मुझे मालूम था, उससे पहले के आदमी अस्थायी हैं।

"मैंने पूरे चार केस दिए साहब!"

"वह कैसे?"

"देखिए साहब।" उसने बतलाया, "हमारे बड़े साहब बोले थे कि अगर तुम चार केस ला दोगे तो कन्फर्मेशन कर देंगे। मैंने चार केस दे दिए।"

"मगर लोग तो परेशान हैं, तुम्हें चार केस मिल कैसे गए?"

"अरे, अपने घर में ही चार केस हो गए साहब !" उसने बतलाया, "एक तो मेरे बाबा, दूसरे पिताजी, तीसरे चाचाजी और चौथे मेरे एक मौसाजी।"

मैं आसमान से गिरा। मुझे मालूम था कि उस व्यक्ति के बाबा कम से कम सत्तर साल के होंगे। पिता भी पचास से ऊपर रहे होंगे। एक उसके चाचा ही थे, जो इस हालत में होंगे, जिनकी नसबन्दी का कोई मतलब हो।"

मैंने पूछा, "तुम्हारे मौसाजी की क्या उमर होगी ?"

"यही कोई साठ-बासठ होगी साहब।" उसने खुश होते हुए बतलाया, "रंडुए है। उसके लिए क्या था। नसबन्दी करो तो भला, न करो तो भला ! मैंने जाकर पांव पकड़ लिए कि मौसा, बचा लो और बस, उन्होंने बचा लिया !"

एक अन्य महाशय से भेंट हुई। इनका दुख अलग किस्म का था। बोले, "साहब, हमें तो सरकारी हुकम हुआ कि तुम्हारे चार बच्चे है, नसबन्दी करा लो। हमने ऐसा खेल खेला कि सांप भी मर जाए, लाठी भी न टूटे।

"सो कैसे ?"

इन महाशय ने फुसफुसाकर बतलाया, "हमने तो साहब सौ रुपये खरच किए और आठ दिन की छुट्टी मनाई, फिर डाक्टर से सर्टीफिकेट ले लिया कि अपना काम तमाम करवा लिया है। ये सर्टीफिकेट सरकार में पेश कर दिया और बस ! -" हंसे। कहा, "बोलिए, कैसी रही ?

और जनाब 'क' बड़े दुखी मिले। इनका दुख यह था कि इनके छोटे भाई की, जिसकी शादी दो साल हुए हुई थी और कोई बच्चा न था, पुलिस वालों ने जबरदस्ती पकड़कर नसबन्दी करवा दी थी। बोले, "भ्रमरजी, हम तो दो ही भाई हैं। मेरे कोई बच्चा नही है, एक छोटे पर ही उम्मीद थी कि कुलदीपक उसके जरिये आएगा, समझेंगे कि हमारा ही बच्चा है, पर वाह री सरकार ! "तू ने न जीने का छोड़ा, न मरने का !"

सुनकर मुझे भी बहुत कष्ट हुआ। कहा, "आपको शिकायत करनी चाहिए।"

"किससे ?" वह रुआंसे हो गए, "किससे शिकायत करेंगे साहब ? कौन सुनेगा ? अंधेर नगरी में कौन सुनेगा ? ज्यादा शोर किया तो मीसा में भीतर चले जाएंगे !"

ग्वालियर के पास है एक गांव पनिहार। अच्छी-खासी आबादी है। वहां जाना हुआ तो गांव वालों में मेरी कार के पहुंचते ही भगदड़ मच गई। औरतें

को समर्थन देंगे।"

गृहपति ने हंसकर उत्तर दिया, "ज़रूर। पर एक शर्त है साहब !"

"फरमाइए ?"

"आप सब अपनी नसबन्दी का सर्टीफिकेट दिखाइए, फिर हम कांग्रेस को वोट देंगे।"

अब कांग्रेस कार्यकर्ताओं का यह हाल कि उत्तर नहीं। चुपचाप उठकर चले आए। कुछेक ऐसी घटनाएं भी हुई जब बेचारे कार्यकर्ताओं को सरकार की ज़्यादतियों के प्रतिक्रियास्वरूप न सिर्फ अपमान, बल्कि थप्पड़ खाने पड़े। कारण था किसी ऐसे गांव में जा पहुंचना जहां परिवार-नियोजन के नाम पर ज़्यादतियां हुई थीं। ऐसी जगह कांग्रेस के नाम-भर से ग्रामीणों ने उत्तेजित होकर प्रचार-कार्यकर्ताओं को घेर लिया और गाली-गुत्ते, लानत-मलामत करके वापस भेज दिया। मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के कुछ हिस्सों में तो यहां तक सुना गया कि तानाशाही सरकारी संस्था के कार्यकर्ताओं ने गांवों में जाना बन्द कर दिया और अपने उम्मीदवार को बतलाते रहे कि 'उसकी पोजीशन बहुत अच्छी है !'

इस तरह के कई लोगों ने मुझे बतलाया था कि क्या करें साहब ! इस सरकार ने हमें किसी जगह मुंह दिखाने काबिल नहीं छोड़ा। किस मुंह से वोट मांगा जा सकता है ? किस तर्क से बात की जा सकती है ? जो-जो अमानवीय कार्य हुए और निरंतर होते ही रहे, उनके बाद लोगों को क्या विश्वास दिलाया जा सकता है ?

तो इस तरह विश्वासहीन स्थिति बनाने के बाद भी कांग्रेस पक्ष का यह झूठा प्रचार चल रहा था कि देश और जनता ने आपातकाल में महान् उपलब्धियां की हैं। माफीनामे भी हो रहे थे। प्रलोभन भी दिए जा रहे थे। अनाप-शनाप पैसा भी व्यय किया जा रहा था।

येन केन प्रकारेण वोट-प्राप्ति के इस कांग्रेस महाभियान को सीधा-सरल मतदाता चकित भाव से ठिठका हुआ देख रहा था और उसकी निश्चित राय बनती जा रही थी कि अब वह झूठ की लपेट में नहीं आएगा !

इधर कांग्रेसी खेमे में आंकड़ों के हिसाब-किताब चल रहे थे और यह हिसाब-किताब निश्चित रूप से जतलाने लगा था कि कांग्रेस पराजय के द्वार पर आ खड़ी हुई है। आमचुनावों में अब तक कांग्रेस की विजय का कारण रहा था प्रतिपक्ष का विभिन्न झंडों, विभिन्न नामों में अलग-अलग दल

बना रहना और यही कारण था कि कांग्रेस हर चुनाव में प्रतिपक्षी दलों में बटे हुए वोटों के कारण सुविधा के साथ जीतती रही थी हालांकि उसे किसी भी चुनाव में ४० प्रतिशत से अधिक मत नहीं मिले थे। १९७१ में इन्दिरा गांधी (आंधी) चुनाव में भी वह कुल ४२ प्रतिशत मत प्राप्त कर सकी थी। इस बार चूंकि शक्तिशाली विरोधी दल एक झंडा, एक नीति, एक घोषणा-पत्र और एक चिह्न पर जनता पार्टी के रूप में उदय हो गए थे, अतः स्पष्ट लगता था कि 'फूट से राज्य बनाए रखने का युग' बीत गया है।

चुनाव-आयोग के मुख्य आयुक्त श्री टी० स्वामिनाथन की सतर्कता और जनतंत्रीय आस्था ने बड़ी योग्यता और न्याय के साथ चुनाव-व्यवस्था की थी और प्रतिपक्ष उनसे पूरी तरह सन्तुष्ट था। यही नहीं, प्रतिपक्ष के अनेक नेताओं ने उनमें पूरी तरह से आस्था और विश्वास व्यक्त करते हुए जनतंत्रवाद में श्रद्धा दर्शाई थी। प्रतिपक्ष के शांत, धैर्यपूर्ण और लोकतंत्रीय विश्वास ने जनमन में उसके प्रति ज्यादा विश्वास पैदा किया था। उनके व्यवहार का सन्तुलन भी एक बड़ी सीमा में जन-विश्वास को जीतने में सफल हो रहा था। ठीक इसके विपरीत कांग्रेस नेताओं का आचरण मतदाता के रहे-सहे विश्वास को डिगाता जा रहा था। यह विश्वास उस समय एकदम डिग गया, जब कुछेक नेताओं ने अपने गलत-सलत काम करने शुरू कर दिए और वे सब जन-साधारण के सामने उजागर होने लगे।

जैसे-जैसे चुनाव-समय करीब आता जा रहा था, कांग्रेस उम्मीदवार बौखलाहट में 'साम दाम दंड भेद' हर तरह से अपने उभरे हुए प्रतिद्वंद्वी को मिटाने की कोशिश में जुट गए थे।

रायपुर से जनता पार्टी के उम्मीदवार श्री पुरुषोत्तमलाल कौशिक की लोकप्रियता और बढ़ते प्रभाव को देखकर मध्य प्रदेश ही नहीं, केन्द्र तक भारी चिन्ता देखी जा रही थी। कारण था महाकौशल के छत्रपति कांग्रेसी का छत्र खिसकते जाना। विद्याचरण शुक्ल को लगने लगा था कि उनकी अपनी 'स्टेट' ही उनके हाथ से निकली जा रही है। परिणाम हुआ वही पुरानी में हमेशा की तरह अपनी सत्ता-शक्ति का दुरुपयोग।

मार्च की १८-१९ तारीख को रात के समय दो दिलेरी घटनाएं घटीं। कुछ लोगों ने श्री कौशिक को घेर कर लोहे की छड़ों से उनपर हमला कर दिया। उसी रात कम्युनिस्ट विधायक सुधीर मुखर्जी पर चाकू से प्रहार हुआ। जैसे-तैसे दोनों की जानें बच सकीं। हालांकि कौशिक और मुखर्जी को गहरी

चोटें आईं। इस घिनौने कृत्य पर रायपुर ही नहीं, आसपास के सारे इलाके में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। दैनिक 'युगधर्म' और दैनिक 'नवभारत' ने इस हमले का विस्तृत समाचार प्रकाशित किया और जनता तक पूरा विवरण पहुंचाने की कोशिश की।

कहते हैं कि श्री शुक्ल ने तुरंत उच्चस्तरीय आदेश किए कि ये दोनों ही समाचारपत्र जनता तक नहीं पहुचने चाहिए। परिणामतः अतिरिक्त जिलाधीश ने तुरंत अखबारों के व्यवस्था-विभाग को हुक्म किया कि अखबार बाहर नहीं जाएंगे। चूंकि इस हुक्म में कुछ देर हो गई थी अतः अखबारों के बंडल जहां-तहां रवाना हो चुके थे। दैनिक 'युगधर्म' की हज़ारों प्रतियां ज़ब्त कर ली गईं और कुछेक बंडल जो यहां-वहां भेजे जा चुके थे, स्टेशनों पर उतरवा लिए गए। 'नवभारत' के भी कई बंडल रेलगाड़ियों से उतरवाए गए। और समाचारपत्रों को एक नया आदेश मिला कि खबर छापी जाए, किन्तु इतने मामूली ढंग से कि जनता को मालूम न हो सके कि मामला किस कदर गंभीर है। इस निरंकुशता का यह व्यवहार नया नहीं था, उस आपातकाल का स्वभाव ही था, जिसके अन्तर्गत बड़े तानाशाह के नीचे उप-तानाशाह पनपते रहे थे।

कौशिक की लोकप्रियता इतनी ज़बरदस्त है कि समाचार को बहुत दबाने, अखबारों को हर तरह से दमन करने के बावजूद जनता तक असलियत पहुंच गई और इस असलियत के साथ ही यह कहानी भी कि किस तरह असलियत को छुपाने के लिए मामले को रफा-दफा करने की कोशिश की गई थी।

'न दलील, न वकील, न अपील' यह एक छोटा-सा नारा था, जिसका जनक कौन-सा दल है, मैं नहीं जानता, किन्तु इन तीन शब्दों में तानाशाही का जो चित्र है, वह चित्र चुनाव के दिन तक नहीं हटा था। दलील देने वाली हर आवाज़ बन्द थी। अपील करनेवाले गले दबा दिए गए थे। 'ब्लिट्ज़' (२ अप्रैल, १६७७) लिखता है—"मध्यप्रदेश में कम से कम ५०० अखबार बंद कर दिए गए।" सेंसरशिप की आड़ में न केवल अधिकारियों ने अखबारों को बंद कर दिया, बल्कि सैकड़ों जिलास्तरीय पत्रकारों और एजेण्टों को जेल के अन्दर पहुंचा दिया। खरगोन जैसे आदिवासी जिले में कम से कम एक दर्जन संवाददाताओं या ऐजेण्टों को जेल में डाल दिया गया।"

कुल ५४२ स्थानों के लिए चुनाव हो रहे थे, जिनपर कुल प्रत्याशियों की संख्या २,४३१ थी। कुल स्थानों के मतदाता ३१,८३,४२,६०२ थे।

इनमें से सिक्किम और अरुणाचल प्रदेश में कांग्रेस प्रत्याशी निर्विरोध निर्वाचित हो गए थे।

सन् १९७१ में कुल स्थान ५२० थे जबकि प्रत्याशियों की संख्या २,६७४ थी। १९७१ और १९७७ के चुनावों में एक अन्तर और स्पष्ट था। पांचवीं लोकसभा के चुनावों में, यानी १९७१ में केवल ३६ सीटों पर सीधा संघर्ष हुआ था, किन्तु इस बार १६३ स्थानों पर कांग्रेस और जनता पार्टी के उम्मीदवारों में सीधा संघर्ष था। १९७१ के चुनाव में कांग्रेस को ३५२ स्थान मिले थे और उसका जबरदस्त बहुमत सामने आया था। प्रान्तवार कांग्रेस-सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी :

प्रान्त	कुल स्थान	उम्मीदवार	कांग्रेस
असम	१४	४०	१३
आंध्र प्रदेश	४२	१६५	२६
उत्तर प्रदेश	८५	४१३	७३
उड़ीसा	२१	६१	१५
कर्नाटक	२८	६८	२६
केरल	२०	६३	६
गुजरात	२६	११२	११
जम्मू-कश्मीर	६	२६	५
तमिलनाडु	३९	१९५	९
पंजाब	१३	७९	१०
पश्चिम बंगाल	४२	१७१	१५
बिहार	५४	३४०	४०
मध्यप्रदेश	४०	१५७	२१
महाराष्ट्र	४८	२११	४३
राजस्थान	२५	१०२	१४
हरियाणा	१०	५०	७
हिमाचल प्रदेश	४	१४	४
नागालैंड	१	२	—
मणिपुर	२	११	२
अण्डमान निकोबार	१	२	१
गोवा दमन दीव	२	१५	१

चण्डीगढ़	१	१०	१
दादरा नगरहवेली	१	३	१
दिल्ली	७	४१	७
पांडिचेरी	१	४	१

चुनावों में निरंतर खराब स्थिति होते जाने के कारण जन-साधारण में एक सहज प्रतिक्रिया यह होने लगी थी कि कहीं श्रीमती इन्दिरा गांधी चुनाव स्थगित करते हुए पुनः तानाशाही हथियार का उपयोग न करने लगें। यह वहम जनता ही नहीं, नेताओं में भी खासा फैला हुआ था। इसके बावजूद वे पूर्णतः धैर्य और आत्मविश्वास के साथ जन-अदालत में न्याय के लिए खड़े हुए थे।

और जन-अदालत ने जब न्याय देना शुरू किया तो उन सभी को कटघरे में खड़ा कर दिया, जिन्होंने उसपर दमन, अन्याय और अत्याचार में हिटलरशाही को भी लजा दिया था। हालांकि चुनाव प्रारंभ होने के कुछ समय पूर्व से ही चौंकानेवाली घटनाओं के समाचार जनता पर उछले थे। इनमें एक विशेष समाचार था श्री संजय गांधी की जीप पर गोली चालन। इसी तरह की कई बातें सुनने-पढ़ने में आई थीं। जैसाकि हमेशा होता है, चुनावों में मतदाता की संवेदना और भावनाओं को उभारकर भी वोट हासिल किए जाते हैं, इस चुनाव में भी कोशिश की गयी, किन्तु तानाशाही ने उसे इतना व्यावहारिक और यथार्थवादी बना दिया था कि इस तरह की बातें उसपर तनिक भी असर नहीं डाल सकीं और इसके परिणाम थे चुनाव-नतीजे जिन्होंने एक ही बार में गांधीवाद का चेहरा लगाए हुए हिटलरवाद को चकनाचूर कर डाला था।

श्रीमती गांधी को निश्चय ही उस दिन अहसास हुआ होगा कि नासूर को पट्टियों में छिपाए रखने से काम नहीं चलता। उसका इलाज होता है आपरेशन। कांग्रेस के जिस्म पर भ्रष्टाचार, झूठ, कपट, भाई-भतीजावाद और अत्याचार के जितने नासूर थे, अगर उन्हें समय रहते संस्था के जिम्मेदार लोगों ने काट फेंका होता तो वह दयनीय स्थिति न होती, जिसमें चुनाव के बाद कांग्रेस को जनता ने पहुंचा दिया था। उस दिन, जब जनता पार्टी के स्पष्ट बहुमत की घोषणा हुई होगी, निश्चय ही कांग्रेसियों को लोकनायक जयप्रकाश नारायण के वे शब्द याद आए होंगे, जब उन्होंने बार-

बार चेतावनी दी थी कि दमन और गलत कार्रवाइयां एक न एक दिन आप सभी के लिए क्लेशकारक बनेंगी।

कामराज को लेकर कभी कांग्रेस ने यह झूठा प्रचार प्रारंभ कर दिया था कि वह अंत समय में कांग्रेस में शामिल होना चाहते थे, ताकि दक्षिण भारत के वोट हथियाए जा सकें, उस समय कामराज ने भी कहा था—"मैं कहता हूं कि गिरफ्तार नेताओं को छोड़ दिया जाए देश अधिनायकवाद की ओर बढ़ रहा है। अगर देश में अधिनायकशाही आती है तो देश टुकड़े-टुकड़े होकर गारत में पड़ जाएगा!"[1]

वृद्ध और बीमार कामराज ने चेतावनी में केवल इतना ही कहा था कि 'गिरफ्तार नेताओं को छोड़ दिया जाए क्योंकि देश अधिनायकवाद की ओर बढ़ रहा है' पर बिस्तरे पर लेटे हुए वयोवृद्ध नेता को मालूम नहीं था कि देश अधिनायकवाद पर जा पहुंचा था। यदि श्री कामराज बीमार न होते तो कौन जाने उन्हें भी जेल के सींखचे ही देखने पड़ते?

यों अन्धी तानाशाही के दौर में मानसिक और शारीरिक हत्याओं के ढेरों मामले नई जनतंत्री सरकार की स्थापना के बाद सामने आए (और अब तक आते जा रहे हैं) किन्तु कुछेक हालात मुझे अपने उन विरोधी नेता मित्रों से उसी समय सुनने को मिल चुके थे, जब आपातकाल लागू था। दिसम्बर, १९७७ में किसी कार्यवश मैं अपने गृह-नगर ग्वालियर पहुंचा तब मुझे मालूम हुआ कि वहां के सुप्रसिद्ध नेता और विधायक श्री शीतलासहाय जेल से 'रिहा' हो गए हैं। आश्चर्य हुआ था मुझे। पूछा, "शीतलासहाय रिहा कैसे हो सकता है?"

बतलाने वाले को इससे ज्यादा सूचना नहीं थी। बोला, "मैं तो इतना जानता हूं साब, कि शीतलासहायजी नगर में देखे जा रहे हैं।"

मैंने शीतलासहायजी से सम्पर्क साधा। भेंट तय हुई। देर तक हम लोग बातें करते रहे। शीतलासहायजी ने बतलाया, "बीमार हो गया था। बाद में सरकार ने सोचा कुछ दिन शहरी हवापानी खिला दिया जाए, अतः चार दिन के लिए पैरोल पर छोड़ा है।"

मुझे संतोष हुआ। शीतलाजी के बारे में सूचना देने वाले ने मुझे खूब परेशानी में डाल दिया था—'रिहा' शब्द कहकर। खूब जानता हूं शीतला-

---

1. नवशक्ति, दक्षिण भारत का एक समाचारपत्र

सहाय की। मैत्री स्तर पर भी, नेता के स्तर पर भी। सत्य के लिए छात्र-जीवन से संघर्षरत रहे शीतलासहाय की डिक्शनरी में बौद्धिक और मानसिक स्तर पर किसी भी किस्म का 'समझौता' शब्द कभी नहीं रहा है। कांग्रेसी सरकार के लिए वह मध्यप्रदेश में हमेशा ही विरोधी के नाते सरदर्द रहे थे, ऐसे आदमी को 'रिहा' कर दिया जाए और वह भी तानाशाही में—भला कैसे संभव है? सन्तुष्ट हुआ कि शीतलासहाय रिहा नहीं हुए हैं, बल्कि रिहाई का धोखा सह रहे हैं। बात-बात में शीतलासहाय ने उस समय भी मुझे बहुत कुछ बतलाया था कि तानाशाही कितने नकाब ओढ़े हुए चल रही है। बोले, "जब भोपाल में मुझे जेल में रखा गया तब चिकित्सा-सुविधा नहीं के बराबर थी। यानी यह हालत हुई कि मैं और कई लोग बीमार हैं, पर सरकारी डॉक्टर अपनी उपस्थिति जतलाने के लिए जेल में आता है और बहुत कहने, निवेदन करने के बावजूद ऊपरवाले हिस्से में बैठकर जेल अधिकारियों से गप्पें करते रहने के बाद वापस चला जाता है। दवा के नाम पर हमलोग सिर्फ बढ़ती हुई बीमारी झेलते रहते हैं।"

"आपने जेल-अधिकारियों को डपटकर नहीं कहा?"

शीतला हंसे, "कमाल करते हो रामकुमार, मैं तानाशाही का कैदी और डपटकर कहता? बीमारी ने १४ महीने में बुरी तरह तोड़ रखा था, सिर्फ निवेदन ही कर पाने की स्थिति थी। भोजन के नाम पर जैसा भी जो दे दिया जाए, खाने की लाचारी थी। न खाओ तो उनकी बला से। बस, बार-बार, रोज-बरोज प्रार्थना किया करता कि भाई मेरी तबीयत तो देखो, इलाज तो करवाओ, किन्तु वह डॉक्टर आश्वासन देता कि अभी आता हूं और ऊपर जा बैठता।"

"इस तरह की उपेक्षा कब तक चली?"

"जब तक जेल में रहा, फिर एक दिन जांच हुई और अचानक डॉक्टर ने रिपोर्ट दी या न जाने भीतरी तौर पर क्या हुआ कि मुझे पैरोल पर रिहा कर दिया गया। अब यहां आकर हॉस्पिटल के काम में जुट गया हूं। समय पूरा होते ही फिर वहीं पहुंच जाऊंगा, जहां से आया हूं।"

शीतलाजी के स्वर की भीतरी तड़प महसूस कर पा रहा था मैं। ज़्यादा जिक्र नहीं बढ़ाया। सिर्फ सोचता ही रह गया था। ये तानाशाही जन-नेताओं और समाज-सेवियों की हत्या करके कितने दिन सांसें ले पाएगी? शीतलासहाय २ जुलाई, १९७५ को गिरफ्तार किए गए थे। बर्बर तानाशाही ने शीतला-

सहाय को जेल में डालकर अपना विरोधी नेता ही गिरफ्तार नहीं किया था, बल्कि उन हजारों-लाखों लोगों की सांसें भी घोंट डाली थीं जो उस विशाल कैंसर हॉस्पिटल से जुड़ी हुई थीं, जिसे अकेले शीतलासहाय का प्रयत्न मूर्त रूप देने जा रहा है।

ग्वालियर में बन रहे करोड़ों की लागत के कैंसर अस्पताल की बुनियाद शीतलासहाय ने ही डाली है और वह अब तक केवल इसलिए चालू नहीं हो सका, क्योंकि शीतलासहाय को विरोधी विचारधारा के कारण तानाशाही ने सीखचों में बन्द कर दिया था। परिणामस्वरूप करोड़ों की लागत से बन रहा अस्पताल लम्बे समय तक अधूरा पड़ा रहा। उसका काम बन्द हो गया। पैरोल पर छूटने के बाद शीतलासहाय ने दिन-रात जुटकर उस काम को सपूर्णता देनी प्रारंभ की।

यह एक उदाहरण है तानाशाही और उसका हथियार बनी अफसरशाही के अमानवीय कृत्यों को।

इसी बर्बर तानाशाही के पैर चुनाव में उखड़ चुके थे। कहते हैं कि जिन दिनों इन खूनी पंजों का उखड़ाव शुरू हुआ, देश में एक खबर सुनी जाने लगी थी। यह कि श्रीमती गांधी अपने को डूबता देखकर कहीं मार्शल-लॉ का सहारा न ले बैठें! यह केवल जन-चर्चा नहीं थी। चुनाव के बाद रहस्योद्घाटन भी हुआ कि इस तरह का भीतरी गोलमाल चला था। श्री हेमवतीनंदन बहुगुणा ने बम्बई में हुई एक आमसभा में कहा कि जिस दिन वह स्वयं बाबू जगजीवनराम और नन्दिनी सतपथी आदि ने कांग्रेस से त्यागपत्र दिया, उसी दिन जनता पार्टी के जनरल सेक्रेटरी श्री लालकृष्ण अडवानी उनके पास पहुंचे। बोले, "चुनाव तो एक तरह से खत्म हो चुका है और नतीजा स्पष्टतः सामने दीख रहा है, लेकिन आप क्या सोचते हैं कि इन्दिरा गांधी चुपचाप बैठी रहेंगी? कहीं सत्ता-शक्ति का सहारा लेकर वह मार्शल-लॉ लागू न कर दें।" इसपर बहुगुणा ने सभा को बतलाया कि उन्होंने उत्तर दिया था, "चिन्ता मत कीजिए अडवानीजी, इन्दिराजी जिस खदान से निकली हैं, उसी खदान से मैं भी निकला हूं।"

क्या श्री अडवानी की आशंका (या उन्हें गुप्त रूप से मिली सूचना) गलत थी? ठीक है कि इन्दिराजी कोशिश करके भी वैसा कर नहीं पाईं या कि हो नहीं सका, पर यह इरादा था। इस इरादे का उद्घाटन मैसाच्यूसेट्स की इन्स्टीच्यूट आफ टेक्नोलॉजी के भूतपूर्व शिक्षक और राजनीतिक समीक्षक श्री

रॉबर्ट मैनोक ने किया।[1] उन्होंने पत्रिका में प्रकाशित करवाए अपने एक लेख में कहा कि श्रीमती गांधी और उनकी सरकार ने अपनी अन्तिम सांसें लेते हुए बार-बार संविधान को रद्द करने तथा चुनाव रद्द करते हुए मार्शल-लॉ लागू करने की कोशिशें की थीं। श्री मैनोक ने लेख में लिखा कि श्रीमती गांधी ने यह कोशिशें अपनी ओर से कीं, किन्तु उनकी कोशिश पूरी न होने देने में कुछ ऐसे लोग बाधक बने, जो यह अच्छी तरह समझ पा रहे थे कि तानाशाही के कारण वे और उनकी संस्था जितना कुछ खो चुके हैं, उससे ज्यादा खोने की भूल उन्हें नहीं करनी चाहिए। इनमें सबसे पहले व्यक्ति थे स्वर्गीय राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद। श्री मैनोक के अनुसार श्रीमती गांधी ने श्री अहमद से कहा था कि वे आपातकाल में राष्ट्रपति के विशेषाधिकारों का प्रयोग करके संविधान के कुछ हिस्सों को निष्क्रिय कर दें तथा उनकी यानी श्रीमती गांधी की समस्या हल करें, किन्तु श्री अहमद तैयार नहीं हुए। श्री मैनोक ने लेख में आगे कहा है कि इसपर इन्दिराजी रुष्ट हो गईं। उन्होंने आवेश-भरे शब्दों में श्री अहमद से बहस की। दूसरे दिन श्री अहमद को दिल का दौरा पड़ा और उनका निधन हो गया।

श्री रॉबर्ट को यह जानकारियां किन सूत्रों के आधार पर मिली थीं, इसका लेख में कहीं उल्लेख नहीं है किन्तु उन्होंने अनेक रहस्यपूर्ण तथ्यों को उजागर किया है। उक्त लेख में वह आगे लिखते हैं कि श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति की ओर से निराश होकर इस सम्बन्ध में जनरल टी० एन० रैना से सम्पर्क साधा और कहा कि कुछ निर्वाचन क्षेत्रों में इस आधार पर सेना लगा देनी चाहिए क्योंकि उन क्षेत्रों में जन-अशान्ति का भय है। कहते हैं कि श्री रैना ने ऐसा करने से स्पष्ट इनकार कर दिया। इसपर मंत्रिमंडल ने जनरल रैना को वैसा करने का आदेश प्रसारित कर दिया। श्री रैना ने सेना को इधर-उधर भेज तो दिया, किन्तु उससे श्रीमती गांधी के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकी।

रॉबर्ट मैनोक ने लेख में यह भी लिखा है कि विधि मंत्री श्री गोखले इस दौर में संविधान के द्वारा कोई ऐसा कानूनी मुद्दा ढूंढ़ने में व्यस्त रहे थे कि जिसे आधार बनाकर चुनाव स्थगित कराए जा सकें।

कुल मिलाकर यह कि निराश स्थिति में श्रीमती गांधी और उनकी सरकार निरंतर यह कोशिश करती रहीं कि किसी भी तरह सत्ता पर स्थापित रहे।

---

१. द नेशन (विदेशी पत्रिका)

इससे भी ज्यादा रोमांचक सत्य यह है और जैसाकि तानाशाही के दौर में हमेशा होता है, इन्दिराजी की तानाशाही के पुरज़े भी पूरे यंत्र की खुफिया निगरानी कर रहे थे। इन पुरजों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे बंसीलाल। चौधरी बंसीलाल ने किस सफाई के साथ पूरे शासन-तंत्र पर अपना जासूसी चक्र चला रखा था, इसका उद्घाटन करते हुए 'नवभारत टाइम्स' की आवाज चुनाव के बाद खुली।[1]

"भूतपूर्व रक्षामंत्री श्री बंसीलाल के जो कारनामे सामने आ रहे हैं, उनमें एक भयकर कारनामा यह है कि हरियाणा तथा उन क्षेत्रों में जहां उनका प्रभाव था, मंत्रियों, विधायकों, वरिष्ठ अधिकारियों तथा बड़े व्यापारियों सभी की सतत निगरानी के लिए खुफिया जासूस नियुक्त थे जो उनके परिवार तक की गतिविधियों पर हर वक्त नज़र रखते थे।

"इससे भी भयानक बात यह है कि खुफिया जासूस श्री बंसीलाल के विरोधियों के यहां चोरी-डकैती से लेकर रास्ते चलते मारपीट तक कराने के लिए आज़ाद थे। हरियाणा के एक भूतपूर्व मंत्री के निजी सहायक ने आज बताया कि सी० आई० डी० के आदेश पर उस मंत्री द्वारा लिखाए गए हर पत्र की एक अतिरिक्त प्रति टाइप करके सी० आई० डी० को देनी पड़ती थी।

"बंसीलाल ने कुछ लोग इस कार्य के लिए भी लगा रखे थे कि जो भी लोग प्रधानमंत्री से मिलें, उनकी बातचीत का विवरण श्री बंसीलाल को तुरन्त मिल जाए।

"हरियाणा से निर्वाचित राज्य सभा के दो सदस्य जो बंसीलाल के गुट के ही थे, एक बार शिष्टाचार के नाते श्रीमती गांधी से मिलने गए थे। वे जैसे ही साउथ ऐवेन्यू स्थित अपने फ्लैटों में पहुंचे, उन्हें बंसीलाल का यह सन्देश रखा हुआ मिला, कि तुरत चंडीगढ़ आकर मुझसे मिलो। वे बेचारे जब श्री बंसीलाल से मिले तो बुरी तरह डांट पड़ी कि बिना मेरी इजाज़त के आप वहां गए कैसे!

"श्री बंसीलाल ने जो खुफिया जासूस इस काम पर लगाए थे, उनके पास वायरलेस से सज्जित कार तथा जीपें तो थीं ही, उन्हें जितना चाहे धन खर्च करने की भी छूट थी।

"इनमें से ही एक जीप श्री संजय गांधी की गाड़ी के साथ मारुति तक

---

१ नवभारत टाइम्स (नई दिल्ली), ४ मई, १९७७

आती-जाती थी। इसी कार्य पर प्रतिवर्ष दो लाख रुपया खर्च होता था।

" हरियाणा के कालेजों तथा विश्वविद्यालयों के छात्रों की गतिविधियों पर बराबर नज़र रखी जाती थी और यदि कोई अवांछित पाया गया तो उसे हटा दिया जाता था। जो प्राध्यापक 'सुपर आका' के विरुद्ध एक-आध शब्द भी भूलचूक से बोल जाते थे, वे तबादले के नाम पर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिए मजबूर थे।

" इतना ही नहीं, श्री बंसीलाल को गृह मंत्रालय के खुफिया विभाग पर भरोसा नहीं था, अतः उन्होंने अपना खुफिया विभाग अलग से स्थापित कर लिया था। एक बार जब उनके पुत्र सुरेन्द्रसिंह के बारे में खुफिया विभाग ने विरोधी रिपोर्ट दी तब नाराज़ होकर उन्होंने खुफिया विभाग की भी निगरानी करानी शुरू करा दी।

" रिवासा कांड की सही रिपोर्ट देने के लिए भिवानी के खुफिया पुलिस-इन्स्पेक्टर को दंडित होना पड़ा। सुरेन्द्रसिंह के विरोधी श्री भंवरसिंह की दादी की हत्या के लिए जिम्मेदार उप-अधीक्षक को पदोन्नत करके अधीक्षक बना दिया गया।

" इसी केस के प्रसंग में भिवानी के एक खुफिया अधिकारी को गिरफ्तार कराया गया और उसकी पत्नी को अपमानित किया गया।

" पोस्टमास्टरों को आदेश थे कि वे पत्रकारों की निजी डाक को खोलकर उसकी जांच करें। सन्देहास्पद पत्रों को पहुंचने ही नहीं दिया जाता था।

" जब कुछ डाक अधिकारी इस आदेश का पालन न करते पाए गए तो उन्हें मुअत्तिल कर दिया गया। तब के संचार मंत्री ने जब उनकी सेवाएं बहाल कर दीं तब उन्हें उसकी कीमत मंत्रिपद से चुकानी पड़ी।

" बंसीलाल की गलत गतिविधियों में सहायक न बनने के कारण श्री पोसवाल, श्री हरिद्वारीलाल, श्री खुर्शीद अहमद तथा श्रीमती चन्द्रावती को भारी कीमत चुकानी पड़ी।"

बहरहाल चुनाव शुरू हुआ और चार दिनों बाद ही झूठ के पांव बुरी तरह उखड़ गए। जनता के शान्त विद्रोह ने तानाशाही को उठाकर कचरे के ढेर पर फेंक दिया। निम्न आंकड़ों से अनुमान लगाया जा सकता है कि अहिंसात्मक शिष्ट क्रांति ने संसार के सबसे बड़े प्रजातंत्र में किस तरह सत्ता-परिवर्तन किया।

२३ मार्च, १९७७ को चुनाव आंकड़े और देश का भविष्य निर्णीत हुआ—

इस दिन सुबह तक ५४२ सीटों में से ५३६ सीटों के चुनाव परिणाम आ चुके थे :

कुल स्थान	:	५४२
चुनाव-परिणाम	:	५३६
जनता पार्टी	:	२७२
सी० एफ० डी०	:	२८
कम्युनिस्ट (मार्क्सवादी)	:	२२
कांग्रेस	:	१५३
कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया	:	७
अन्ना डी० एम० के०	.	१६
डी० एम० के०	:	१
अकाली दल	:	८
अन्य	:	२८
निर्दलीय	:	८

(जिन्हें अन्य के अन्तर्गत गिना गया है उनमें फारवर्ड ब्लाक, रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया, मुस्लिम लीग, केरल कांग्रेस, यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट : नागालैंड, हिल स्टेट पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी ऑफ मेघालय, महाराष्ट्रवादी गोमांतक पार्टी आदि विभिन्न दल हैं।)

अगले चौबीस घण्टे में सम्पूर्ण चुनाव-भविष्य सामने था, किन्तु इससे पूर्व ही भारत का राजनीतिक भविष्य निश्चित हो चुका था और भारतीय मतदाता ने बहुमत से तानाशाही को अस्वीकार कर दिया था। इस मतदाता ने यदि श्रीमती गांधी को सिर-आंखों उठाकर अपना विश्वास सौंपा था तो इसीने उनके अधिनायकवादी षड्यंत्र को असफल करते हुए ऐसी पराजय दी थी, जिसने सदियों के इतिहास पर खड़ी एक महान संस्था को ही लगभग चौपट कर दिया था।

स्वयं श्रीमती गांधी रायबरेली में जनता पार्टी के राजनारायण से ५५ हजार से अधिक मतों से पराजित हुईं। केन्द्रीय मंत्रिमंडल के ३४ दिग्गज मंत्रियों ने भयावह पराजय का मुंह देखा। सर्वश्री बंसीलाल, संजय गांधी, विद्याचरण शुक्ल, एच० के० एल० भगत जैसे लोग धराशायी हो गए। संसार ने विस्मय से देखा कि जिस देश के मतदाता को उन्होंने सदा ही 'अशिक्षित और

विश्वास और निष्ठा का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है, जिससे पीढ़ियां सबक लेती रहें।

अमरीकी राष्ट्रपति श्री जिमी कार्टर ने प्रजातंत्र के प्रति विश्वास और आस्था दिखाने पर भारत की प्रशंसा की और कहा कि भारतीय चुनाव शेष विश्व के लिए प्रेरणा-स्रोत हैं।

लोकतंत्र और तानाशाही के इस महान और शान्त युद्ध में लोकतंत्र की विजय पर सारे संसार के प्रमुख पत्रों ने जो टिप्पणियां कीं, वे भी इस बात की प्रमाण है कि श्रीमती गांधी के विश्वव्यापी शासकीय प्रचार के बावजूद समस्त संसार जानता था कि वे तानाशाह हैं। **दी लंदन टाइम्स** ने एक लम्बी टिप्पणी प्रकाशित करते हुए लिखा—"नेहरू वंश का शासन-काल समाप्त हो गया। संजय गांधी के एकदम उभर आने से नेहरू वंश के सत्तारूढ़ रहने का खतरा बढ़ गया था। इस चुनाव ने साबित कर दिया है कि भारतीय मतदाता संसदीय प्रणाली में किसी तरह का कोई परिवर्तन नहीं चाहता है और वह यह भी नहीं सह सकता कि समाचारपत्रों पर सेंसर लगाकर सत्य का गला घोंटा जाए या बिना मुकदमा चलाए किसीको भी जेल में डाल दिया जाए।

आस्ट्रेलिया से प्रकाशित होने वाले **सिडनी मार्निंग हेराल्ड** ने लिखा—"इस महान मतदान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय जन लम्बे समय से चले आ रहे कांग्रेस प्रशासन से ऊब चुका था और उसे श्रीमती इन्दिरा गांधी की तानाशाही नीतियां तथा दमन-चक्र बिलकुल पसन्द नहीं थे।" इसी पत्र ने टिप्पणी में विश्वास व्यक्त किया था कि हो सकता है नई सरकार के स्थायित्व में दिक्कतें आएं, पर मतदाता को तानाशाही स्वीकार नहीं है। आस्ट्रेलिया के ही अन्य पत्र ने लिखा—"यह भारत के आम आदमी की विजय है और विश्व-भर में लोकतांत्रिक व्यवस्था का स्थायी आश्वासन भी है।"

मेलबोर्न एज ने कहा कि भारतीय चुनावों से यह पता चलता है कि वहां की जनता में लोकतंत्र के लिए अगाध प्रेम है और वहां का भविष्य प्रजातंत्र ही है।

केन्या के **स्टैण्डर्ड** ने एक टिप्पणी में लिखा—"अनेक राजनीतिक उतार-चढ़ावों के बावजूद भारत के मतदाता ने लोकतंत्र को ही अन्तिम लक्ष्य माना। प्रकट है कि भारत में लोकतंत्र की जड़ें बहुत गहरी हैं।"

गार्जियन के अनुसार भारतीय जनता ने एक बड़ा दांव लगाया है। इस क्रांति को राजनीतिक भूकम्प की संज्ञा देते हुए 'गार्जियन' ने स्वीकार किया कि

भारतीय मतदाता ने इस चुनाव के द्वारा यह पूरी तरह साबित कर दिया कि तानाशाही ज्यादा नहीं चल सकती। और यह भी कि जनता का मत आक्रोश उसकी धज्जियां उड़ा डालता है।

डेली टेलिग्राफ की एक टिप्पणी में इस चुनाव को एक गलत समय और युग का अन्त निरूपित किया गया। कहा गया कि गत आपातस्थिति की निरंकुशता और श्रीमती गांधी के ग्यारह वर्षों के सत्ताकाल और कांग्रेस के तीस वर्षों के राज्य को जनमत ने समाप्त कर दिया।

भयावह पराजय के करीब पहुंचते ही २० मार्च को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने मंत्रिमंडल की आपात बैठक बुलाई। एक प्रमुख हिन्दी समाचारपत्र के अनुसार इस बैठक का कारण 'भावी कदम' पर विचार करना था। यही समाचारपत्र आगे सूचना देता है कि यह जानकारी करने की बहुत कोशिश की गई कि इस बैठक में प्रधानमंत्री के इस्तीफे पर विचार हो रहा है या नहीं—किन्तु पता नहीं चल सका। यह बैठक घण्टों चलती रही। भीतरी तौर पर इस बैठक में काफी छींटाकशी हुई बताते हैं। ११ वर्ष ५६ दिन, जिसमें तानाशाही के बीस माह शरीक हैं, सत्तारूढ़ रहने के बाद, लाचारी की हालत में श्रीमती गांधी ने २२ मार्च को सुबह १० बजे अपने मंत्रिमंडल की अध्यक्षता करने के बाद राष्ट्रपति-भवन पहुंचकर कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री बासप्पा दानप्पा जत्ती को अपना त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिया।

२० माह लम्बी भयावह कालरात्रि समाप्त हुई।

सुबह के साथ, रात के चेहरे

२६ मार्च को देश की नई आजादी पर दूसरी सरकार बनी। १४ मंत्रियों के शपथ-ग्रहण के साथ पहले गैरकांग्रेसी प्रधानमंत्री श्री मुरारजी भाई देसाई ने देश की बागडोर संभाली। यह एक नई सुबह थी, नई आशाओं और उमंगों से भरी सुबह, किन्तु इस सुबह के साथ ही रात के कितने अंधेरे चेहरों ने अपने-आपको बदल कर इस रोशनी में छुपा लिया—निश्चित रूप से विश्लेषण और विचार की बात है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि अवसरवादी और निहित स्वार्थों वाले लोग, गिरगिट की तरह रंग बदलते हैं। और इन गिरगिटों ने हर समय देश को नुकसान पहुंचाया है।

इस सुबह के साथ ही यह सब होना शुरू हुआ, जिस क्षण तक यह पुस्तक

विश्वास और निष्ठा का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है, जिससे पीढ़ियां सबक लेती रहें।

अमरीकी राष्ट्रपति श्री जिमी कार्टर ने प्रजातंत्र के प्रति विश्वास और आस्था दिखाने पर भारत की प्रशंसा की और कहा कि भारतीय चुनाव शेष विश्व के लिए प्रेरणा-स्रोत हैं।

लोकतंत्र और तानाशाही के इस महान और शान्त युद्ध में लोकतंत्र की विजय पर सारे संसार के प्रमुख पत्रों ने जो टिप्पणियां कीं, वे भी इस बात की प्रमाण हैं कि श्रीमती गांधी के विश्वव्यापी शासकीय प्रचार के बावजूद समस्त संसार जानता था कि वे तानाशाह हैं। **दी लंदन टाइम्स** ने एक लम्बी टिप्पणी प्रकाशित करते हुए लिखा—"नेहरू वंश का शासन-काल समाप्त हो गया। संजय गांधी के एकदम उभर आने से नेहरू वंश के सत्तारूढ़ रहने का खतरा बढ़ गया था। इस चुनाव ने साबित कर दिया है कि भारतीय मतदाता संसदीय प्रणाली में किसी तरह का कोई परिवर्तन नहीं चाहता है और वह यह भी नहीं सह सकता कि समाचारपत्रों पर सेंसर लगाकर सत्य का गला घोंटा जाए या बिना मुकदमा चलाए किसीको भी जेल में डाल दिया जाए।

आस्ट्रेलिया से प्रकाशित होने वाले **सिडनी मार्निंग हेराल्ड** ने लिखा—"इस महान मतदान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय जन लम्बे समय से चले आ रहे कांग्रेस प्रशासन से ऊब चुका था और उसे श्रीमती इन्दिरा गांधी की तानाशाही नीतियां तथा दमन-चक्र बिलकुल पसन्द नहीं थे।" इसी पत्र ने टिप्पणी में विश्वास व्यक्त किया था कि हो सकता है नई सरकार के स्थायित्व में दिक्कतें आएं, पर मतदाता को तानाशाही स्वीकार नहीं है। आस्ट्रेलिया के ही अन्य पत्र ने लिखा—"यह भारत के आम आदमी की विजय है और विश्व-भर में लोकतांत्रिक व्यवस्था का स्थायी आश्वासन भी है।"

मेलबोर्न एज ने कहा कि भारतीय चुनावों से यह पता चलता है कि वहां की जनता में लोकतन्त्र के लिए अगाध प्रेम है और वहां का भविष्य प्रजातंत्र ही है।

केन्या के **स्टैण्डर्ड** ने एक टिप्पणी में लिखा—"अनेक राजनीतिक उतार-चढ़ावों के बावजूद भारत के मतदाता ने लोकतंत्र को ही अन्तिम लक्ष्य माना। प्रकट है कि भारत में लोकतंत्र की जड़ें बहुत गहरी हैं।"

गार्जियन के अनुसार भारतीय जनता ने एक बड़ा दांव लगाया है। इस क्रांति को राजनीतिक भूकम्प की संज्ञा देते हुए 'गार्जियन' ने स्वीकार किया कि

भारतीय मतदाता ने इस चुनाव के द्वारा यह पूरी तरह साबित कर दिया कि तानाशाही ज्यादा नहीं चल सकती। और यह भी कि जनता का शांत आक्रोश उसकी धज्जियां उड़ा डालता है।

डेली टेलिग्राफ की एक टिप्पणी में इस चुनाव को एक गलत समय और युग का अन्त निरूपित किया गया। कहा गया कि गत आपातस्थिति की निरंकुशता और श्रीमती गांधी के ग्यारह वर्षों के सत्ताकाल और कांग्रेस के तीस वर्षों के राज्य को जनमत ने समाप्त कर दिया।

भयावह पराजय के करीब पहुंचते ही २० मार्च को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने मंत्रिमंडल की आपात बैठक बुलाई। एक प्रमुख हिन्दी समाचारपत्र के अनुसार इस बैठक का कारण 'भावी कदम' पर विचार करना था। यही समाचारपत्र आगे सूचना देता है कि यह जानकारी करने की बहुत कोशिश की गई कि इस बैठक में प्रधानमंत्री के इस्तीफे पर विचार हो रहा है या नहीं—किन्तु पता नहीं चल सका। यह बैठक घण्टों चलती रही। भीतरी तौर पर इस बैठक में काफी छीटाकशी हुई बताते हैं। ११ वर्ष ५६ दिन, जिसमें तानाशाही के बीस माह शरीक हैं, सत्तारूढ़ रहने के बाद, लाचारी की हालत में श्रीमती गांधी ने २२ मार्च को सुबह १० बजे अपने मंत्रिमंडल की अध्यक्षता करने के बाद राष्ट्रपति-भवन पहुंचकर कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री बासप्पा दानप्पा जत्ती को अपना त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिया।

२० माह लम्बी भयावह कालरात्रि समाप्त हुई।

सुबह के साथ, रात के चेहरे

२६ मार्च को देश की नई आज़ादी पर दूसरी सरकार बनी। १४ मंत्रियों के शपथ-ग्रहण के साथ पहले गैरकांग्रेसी प्रधानमंत्री श्री मुरारजी भाई देसाई ने देश की बागडोर संभाली। यह एक नई सुबह थी, नई आशाओं और उमंगों से भरी सुबह, किन्तु इस सुबह के साथ ही रात के कितने अंधेरे धब्बों ने अपने-आपको बदल कर इस रोशनी में छुपा लिया—निश्चित रूप से विश्लेषण और विचार की बात है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि अवसरवादी और निहित स्वार्थों वाले लोग, गिरगिट की तरह रंग बदलते हैं। और इन गिरगिटों ने हर समय देश को नुकसान पहुंचाया है।

इस सुबह के साथ ही यह सब होना शुरू हुआ, जिस क्षण तक यह पुस्तक

प्रेस में जा रही है, उस क्षण तक गिरगिट रंग बदल रहे हैं। जाने कितने लेखक, कलाकार, राजनीतिज्ञ, अभिनेता, संपादक और अधिकारी मैंने रंग बदलते हुए देखे हैं—वे ही, जो कभी तानाशाही के हाथों में चाकू-छुरों की तरह रहकर जनता के शरीर, आत्मा और विश्वास पर प्रहार करते रहे थे। चूंकि उस समय तक जनता पार्टी की विधिवत् स्थापना नहीं हुई थी, और उसमें जनसंघ, संगठन कांग्रेस, भारतीय क्रांति दल और समाजवादी पार्टी एकजुट थे, अतः यह कहते भी मैंने बहुतों को सुना कि उन्होंने अमुक दल के साथ रहकर **मौन सेवा** की या फिर अमुक दल के विचारों से वे जुड़े हुए थे अथवा जयप्रकाशजी की क्रांति के प्रति **मौन समर्पण** किए हुए थे। बहुत हैरानी की बात यह थी इन्हीं लोगों को मैंने कभी टेलिविज़न और रेडियो पर आपातकालीन स्थिति तथा श्रीमती गांधी का समर्थन करते देखा था और कभी सम्पादकीय टिप्पणियां लिखकर, या मंच से भाषण करते हुए अथवा नाटक करके आपातकाल रूपी जन-क्रांति के समर्थन का गीत गाते पाया था।

२३ या २४ अप्रैल को मुझे 'रसकलश' नामक एक संस्था द्वारा 'आपात-कालीन स्थितियां और साहित्यकार' विषय पर चर्चागोष्ठी में बुलाया गया। इस गोष्ठी के संयोजक थे सर्वश्री राजेन्द्र अवस्थी, मनोहरश्याम जोशी और लक्ष्मीनारायण लाल। जब यह निमंत्रण कार्ड मुझे मिला तो चकित भाव से कुछ क्षण मैं उसे देखता ही रह गया था। मुझे लगा था कि एक बार फिर वही सिलसिला शुरू हो गया है, जो कभी आपातकाल में था। यह कि जो जितने जोर से आपातकाल का समर्थन करेगा उतने ज़ोर से 'सरकारी नज़र' में आ जाएगा। इस बार रुख बदलकर अन्तर यह होना था कि जो जितने ज़ोर से आपातकाल का विरोध करेगा, उतने ज़ोर से सरकार की नज़र में आ जाएगा। मैंने निश्चय किया था कि इस तरह की 'भड़ैती गोष्ठी' में मैं भाग नहीं लूंगा। बाद में इस गोष्ठी के क्रांतिकारी समाचार (?) मुझे सुदर्शन चोपड़ा से सुनने को मिले। बतलाया गया कि इस गोष्ठी में लेखकों में खासी तू-तू मैं-मैं हुई और चर्चा का विषय **आपातकालीन स्थितियां और साहित्यकार** न रहकर **आपात-कालीन भड़ैतियां और साहित्यकार** हो गया। इस चर्चा के अनुसार कुछ आयोजकों पर कुछ साहित्यकारों ने यह आरोप लगाया कि आज वे आपात-कालीन तानाशाही रुख की आलोचना कर रहे हैं, किन्तु उस समय उनका महान क्रांतिकारी और स्वतंत्रचेता सम्पादक-लेखक कहां गायब हो गया था, जब वे ढोल बजा-बजाकर उस सबका समर्थन कर रहे थे। श्री रमेश गौड़ ने आश्चर्य

प्रश्न किया कि संयोजकों में डा० लक्ष्मी नारायण [illegible] है क्योंकि वह उन लोगों मे से हैं, जिन्होंने आपातकाल के दौरान और [illegible] की समग्र क्रांति के प्रति विश्वास व्यक्त किया तथा कुछ [illegible] इसपर डॉ० लाल ने कहा कि उन्हें मालूम ही नहीं है कि [illegible] बाईं मे कैसे छपा है। तुरंत राजेन्द्र अवस्थी ने स्पष्टीकरण दिया कि [illegible] का नाम उनसे (लाल से) बातचीत के बाद ही प्रकाशित हुआ है। [illegible] कर यह गोष्ठी एक तरह से परस्पर छीछालेदर की गोष्ठी [illegible] मैंने इस तरह के भी समाचार सुने-पढ़े हैं कि लेखकों ने [illegible] करके तानाशाही के विरुद्ध अपने क्रांतिकारी विचार (?) [illegible] नई सरकार की प्रशंसा में बड़े पुल बांधे हैं। कुछ संस्थाएं [illegible] ऐसी संस्थाओं के कुछ अवसरवादी लोग एक-दो इस्तीफे [illegible] लेकर [illegible] निहित स्वार्थ पूरे करने में जुट गए हैं।

[illegible] जिस गोष्ठी का जिक्र मैंने किया, उस तरह की कई [illegible] [illegible] गतिविधि दिखलाने में लगे हुए हैं, [illegible] [illegible] किस्म की संस्थाएं बनी थीं।

[illegible] ने 'धर्मयुग' में वक्तव्य देकर [illegible] [illegible] का षड्यन्त्र कहा, परेशान होकर [illegible] [illegible] प्रकाशित कराया और बार-बार, [illegible] [illegible] शब्दों का प्रयोग करके कहा कि [illegible] [illegible] अधिकांश को आपत्काल [illegible] [illegible] ने कुछ नाम गिनाए हैं—सर्वश्री [illegible] [illegible], डा० रघुवंश, रेणु, सत्यव्रत सिन्हा, सुरेन्द्र [illegible] [illegible] हरियाणा, बिहार, उत्तरप्रदेश, [illegible] [illegible] एक आदमी भी चुनकर नहीं [illegible] [illegible] और मध्यप्रदेश में उनका [illegible] [illegible] कही जा सकती है कि [illegible] [illegible] का नहीं है ?"[1]

[illegible] ने जितने नाम [illegible] [illegible] है। [illegible] प्रान्त [illegible]

---

[1] [illegible], ८ मई, १९७७

मतदाताओं की संख्या का तोला-दो तोला भी नहीं निकलता। इस सत्य को हिन्दी लेखक स्वयं जानते हैं। श्री अमृतराय बीच में कहते हैं'''यह कहा होता कि अधिकांश लेखक मौन रहे कारण बतलाया है कि मैं समझता हूं कि इस बीच भी काफी कुछ लिखा गया है, प्रतिबन्धों के रहते छप नहीं सकता था, इसलिए नहीं छपा। आगे कहते हैं : अब धीरे-धीरे सामने आएगा। क्या फिर भी हिन्दी के अधिकांश लेखक चापलूस हैं ?

एक तरफ अमृतरायजी कह गए हैं कि अधिकांश लेखक मौन रहे, दूसरी तरफ कहते हैं कि इस बीच काफी कुछ लिखा गया, तीसरी ओर बतलाते हैं कि अब धीरे-धीरे सामने आएगा। ये बातें बहुत समझ में आने वाली तो नहीं हैं। आ भी जाएं तो मानी जानेवाली नहीं हैं और आपातकाल के बाद जिस तरह इन सम्पादकीय टिप्पणियों के साथ कविताएं, लेख, कहानियां छप रहे हैं कि यह अमुक कवि या लेखक साहब की आपातकालीन मनस्थिति थी, उससे लगता है कि जयप्रकाशजी की समग्र क्रांति हिन्दी लेखक अब कर रहा है। यह कहकर भी हिन्दी लेखक बच नहीं सकता कि उसने मौन धारण कर लिया। क्यों किया ? अगर वह सचमुच इन्कलाबी था, सच का पहरुआ था तो उसने चौराहे-चौराहे नागार्जुन की तरह कविताएं क्यों नहीं सुनाईं ? कोई कुछ छापने को तैयार न था, सेंसर के भय के कारण, तो उसने स्वयं क्यों नहीं कहा, सुनाया ? दुख तो यह है कि अब वह मुखौटा बदलकर कागजी विद्रोह कर रहा है। इस तरह शहीदी मिलने से तो रही। अमृतरायजी के इस पत्र का उत्तर देते हुए इसी अंक में श्रीमती भागवत का पत्र भी 'धर्मयुग' ने छापा है। इस पत्र में बड़े शालीन ढंग से वह कहती है—"अमृतजी ने जो जानकारी हमें इमरजेंसी के दौरान हिन्दी लेखकों के बारे में दी है, उसके बारे में पूरी तरह मेरा जानना तो दूर की बात है, यहां के अधिकांश हिन्दी लेखकों और पत्रकारों को भी उसकी जानकारी नहीं थी।"[1] लगता है अब अमृतरायजी को दूसरा पत्र लिखना पड़ेगा क्योंकि श्रीमती भागवत कभी प्रहार कर देती हैं, कभी चिकुंटी ले लेती हैं।

यह सिलसिला खत्म होना चाहिए। अच्छा तो यह है कि हिन्दी लेखक-पत्रकार स्वीकार लें, कि उनका मौन भी ठीक नहीं था, बशर्ते कि सचमुच मौन था। 'तोला-दो तोला श्रेय ही सही' इस भाव से शहीदी न बटोरें। यों

१. धर्मयुग, १५ मई, १९७७

भी क्रांति तोल, मासे-रत्ती से नहीं होती। अगर होती, तो कभी की हो गई होती। यहां मैं एक और हिन्दी लेखक की ईमानदार कलमबयानी लिखना चाहूंगा और इस सराहना-प्रशंसा के साथ लिखना चाहूंगा कि अधिकांश मे न सही कुछ मे इतना आत्मबल अवश्य है कि वे सत्य को स्वीकार लें :

शरद जोशी ने एक टिप्पणीनुमा लेख मे लिखा है—"श्रीमती दुर्गा भागवत का यह कहना गलत है कि आपातकाल मे हिन्दी लेखक सरकार के चापलूस हो गए। हम पहले से थे। हिन्दी के अधिकाश लेखक सरकारी. अर्ध सरकारी या सरकारी सहायता प्राप्त सस्था मे नौकरी करते हैं अथवा प्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित होते है अत. चापलूसी उनके सेवाधर्म का अग है। आपातकाल मे इसी काम मे प्रगति हुई है।"

शरद जोशी ने आगे लिखा है—"वे (हिन्दी लेखक—भ्रमर) हमेशा उच्च सत्ताधारियो की साज़िशो के वकील रहे है। वे आम आदमी की तलाश के नारे लगाते है. पर इस चुनाव मे आम आदमी ने जब अपना मत व्यक्त किया तो वे उपस्थित होने पर भी पहचानने से इन्कार करते हैं। हिन्दी साहित्य साजिशो का एक लम्बा सिलसिला है। श्रीमती भागवत परेशान न हों।"

आपातकाल और लेखकीय सन्दर्भ की बात चली है तो यहा मैं कुछ ऐसे लोगो की चर्चा करना चाहूंगा, जिन्हें अमृतराय अपने लेख मे गिनाना भूल गए। क्या इसलिए कि ऐसे लोगों ने न तो हिन्दी या अग्रेजी मे अपना लेखकीय या पत्रकारीय नाम-चेहरा उजागर करवाने के लिए कोई आदोलन चलाया है, न ही किसी तरह का ढोंग-धतूरा करके हिन्दी भाषा की ठेकेदारी की है ?

ये नाम है सर्वश्री बालेश्वर प्रसाद, दीनानाथ मिश्र, भानुप्रताप शुक्ल और वेदप्रकाश भाटिया। दीनानाथ जी मिश्र पर विभिन्न आरोप थे। सबसे बड़ा आरोप था कि 'पाचजन्य' के सम्पादन के दौरान और बाद मे वह जनता को तानाशाही के विरुद्ध भड़काने की गुस्ताखी कर रहे थे। उन्हें दो बार गिरफ्तार किया गया और दिल्ली के तिहाड़ जेल मे रखा गया। जुलाई, १६७५ से लगातार आठ महीने तक मिश्रजी अण्डरग्राउण्ड रहे और इस बीच उन्होंने क्रांति-सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित करवाकर घर-घर पहुंचाया तथा 'जनवाणी' नामक एक पत्र का सम्पादन आपातकाल के अन्त तक किया। जिन दिनों मिश्रजी अण्डरग्राउण्ड थे, उन दिनों मुझे पता चला था कि वह अनेक विदेशी पत्रकारों तथा भूमिगत क्रांतिकारियों की भेंट गुप्तरूप से आयोजित किया करते थे। इसी तरह श्री भानुप्रताप शुक्ल क्रांतिकारी साहित्य की प्रकाशन-वितरण

व्यवस्था किया करते थे। श्री शुक्ल राजस्थान, पंजाब और हरियाणा में भूमिगत छात्र आन्दोलन का भी आयोजन करते रहे थे। श्री वेदप्रकाश भाटिया भी भूमिगत साहित्य के सम्पादन-प्रकाशन का कार्य देख रहे थे। उन्होंने उस दौरान 'सत्य समाचार' नामक एक पत्र का सम्पादन भी किया। बालेश्वरजी न मालूम तानाशाही की किस भूल के कारण छूटे रह गए थे और तानाशाही को ज्ञात नहीं था कि उनका सम्पर्क निरन्तर सभी से रहा। 'भारतीय साहित्य परिषद्' की केवल दिल्ली कार्यसमिति की बैठक के १८ सदस्यों में से १४ आन्दोलन के दौरान जेल में रहे, जबकि ४ सदस्य अपनी नौकरी से मुअत्तिल पड़े रहे।

अपने पत्र में श्री अमृतराय के पास सही तरह गिना पाने के लिए हिन्दी पत्रकारों-लेखकों के नाम नहीं थे, अतः उनकी सूची उपर्युक्त नामों से बढ़ा रहा हूं। ताकि सम्पादक के नाम अगला कोई पत्र लिखने में उन्हें सुविधा हो।

दूसरी आज़ादी ने यदि एक ओर कांग्रेस को बौखला दिया था तो दूसरी ओर उन मुखौटाधारियों को भी गहरी चोट पहुंची थी जो अवसरवाद में देश की जनता से गद्दारी करते रहे थे। सत्ताशक्ति और तानाशाही के अन्त का परिणाम तुरन्त ही कांग्रेस में देखा जाने लगा। जिस तरह कार्यसमिति की बैठकों में परस्पर दोषारोपण हुए, लोगों का रख-निकाल चला, पत्रों में वक्तव्य-बाजी प्रारम्भ हुई, श्रीमती गांधी ने कुछ दिनों तक 'संन्यास' लिए रहने की नाटकीय घोषणा की, फिर कांग्रेसाध्यक्ष पद को लेकर मतदानबाज़ी हुई, उससे यह पूरी तरह स्पष्ट हो गया कि पराजय का एक थपेड़ा भी कांग्रेस नहीं सह पाई है। क्या वह वही कांग्रेस है, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लाठियों, गोलियों से टूटना तो दूर, लड़खड़ाती तक नहीं रही थी। अचरज से सारी दुनिया देख रही थी। क्या यह वही कांग्रेस है, जिसने संघर्ष की लम्बी मिसाल कायम की थी?

यह कांग्रेस वह नहीं थी! कांग्रेस के नाम से जिस दल रूपी सत्तासमुद्र में ज्वार आया था, उसने मर्यादा और अनुशासन के सारे कूल-किनारे तोड़ डाले थे। यही नहीं, बेहद हल्के और अमर्यादित शब्दों में कांग्रेस के दिग्गज एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप करने में लग गए थे। क्या इसलिए कि सत्ता-समझौता ही उन्हें एक किए हुए था? क्या इसलिए कि जनता के शिष्ट इन्कलाब ने उनके स्वार्थों के सारे महल धराशायी कर दिए थे? क्या इसलिए कि सत्ता खिसक जाने के कारण अचानक ही उनके कारनामों का बहीखाता जो दो

नम्बर का था और जिसे अब तक जनता में नही रखा गया था—सामने आने को हो गया था ?

आज़ाद देश की नई सरकार जब तानाशाही के दाग मिटाने मे व्यस्त थी, तब कांग्रेस दल परस्पर आरोप करने मे जुटा हुआ था। आपातकाल में अकारण ही प्रतिबन्धित कर दिए गए राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे संगठनों से प्रतिबन्ध उठाया गया। देश-भर की जेलों में बिना आरोप, मुकदमा चलाए गिरफ्तार कर लिए गए नागरिकों की रिहाई शुरू हुई। 'आंसुका' मे लगभग साढे तीन हज़ार व्यक्ति जेलों मे पडे हुए थे, उन्हे छोड़ा गया, प्रेस सेंसरशिप खत्म की गई ताकि लोकतन्त्र सत्य रूप मे चल सके।

इधर कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक मे कांग्रेस की पराजय पर जब विचार-विमर्श हुआ, तब वे कई सदस्य, जो श्रीमती गाधी के सत्ताकाल मे खामोश बैठे रहते थे, अचानक उबलकर सत्य बखानने लगे। इस कार्यसमिति मे हरियाणा के श्री बंसीलाल के सम्बन्ध मे खासी चखचख रही। अनेक सदस्यों ने विचार व्यक्त किए और अन्त मे एक प्रस्ताव के ज़रिये श्री बंसीलाल को छह वर्ष के लिए पार्टी, उसकी समस्त समितियो और कांग्रेस की सदस्यता से निष्कासित कर दिया गया। श्री सजय गाधी, विद्याचरण शुक्ल और ओम मेहता को लेकर भी आलोचना हुई, किन्तु श्री गाधी के बारे में इसलिए विचार नही किया जा सका क्योंकि उन्होने पहले ही दल की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया था, जबकि श्री विद्याचरण शुक्ल के सम्बन्ध मे निर्णय किया गया कि उन्हे सत्ता के दुरुपयोग के आरोप मे प्रताडित किया जाना चाहिए। ओम मेहता के सम्बन्ध में विचार-विमर्श नही हुआ।

कांग्रेस : आत्मपरीक्षण की राजनीति

निस्सन्देह यह सबसे दुखद सत्य है कि ज़बरदस्त पराजय के बावजूद कांग्रेस नाधी भारत के पिछले सत्तारूढ दल के सोचने-समझने मे तनिक भी अन्तर नहीं आया और निरन्तर यह दोहराया जाता रहा कि कांग्रेस इसीलिए नही हारी कि उसकी नीतियां गलत थी, बल्कि उनके क्रियान्वयन मे दोष था। जब कांग्रेस के उच्चस्तरीय नेताओं के मुह से 'नीतियां' की बात सुनता हू तो लगता है कि वे अपने साथ ही नहीं, सारे देश की उस जनता के साथ, जिसने उन्नीसी तानाशाही का दमनचक्र झेला था, क्रूर मज़ाक कर रहे हैं। क्या ताना-

शाही का नाम नीति है ? क्या बिना मुकदमे चलाए अकारण ही लाखों लोगों को जेल में सड़ा डालना नीति है ? क्या विरोधी पक्ष को ताड़ित, अपमानित करते हुए क्रूरतापूर्वक दमन करना नीति है ? निजी स्वार्थों के राजमहल बनाना और कुछ खास लोगों को अपने लिए जन-धन और सत्ताशक्ति का उपयोग करना नीति हो सकता है ? पर अफसोस''कांग्रेस महासमिति के अधिवेशन में जबकि कांग्रेस की हार के कारणों पर तथाकथित 'खुला विचार' चल रहा था, अनेक नेता कह रहे थे कि बात उस तरह नहीं है, जिस तरह समझी जा रही है, बल्कि बात उस तरह है, जिस तरह वह (यानी नेता) समझता रहा है।

एक ओर यदि श्री यशवन्तराव चव्हाण ने खुलेपन के साथ इस सत्य को स्वीकारा कि "कांग्रेस की पराजय अपनी नीतियों और परम्पराओं से हटने के कारण हुई है, तथा हमें यह देखना होगा कि भविष्य में हम अपने सिद्धांतों को न भूलें," तो दूसरी ओर श्रीमती गांधी ने कहा कि "कांग्रेसियों को हार से निराश नहीं होना चाहिए क्योंकि हम यह समझते हैं कि भारत के नवनिर्माण की जो सुदृढ़ आधारशिला हमने रखी है, उसे किसी के लिए भी तोड़ना आसान नहीं है।'

इन सबसे परे तीसरी ओर कांग्रेस की भीतरी गुटबाजी और छिछोरी राजनीति का प्रदर्शन भी हो रहा था। जिसमें चुनावों की भयावह हार की हताश मनःस्थिति में महाधिवेशन के दौरान हर भाषण में गुटबाजी, अधिकार प्रवृत्ति और व्यंग्य होते रहे। बैठक के प्रारम्भ में ही हंगामा हो गया। शोर, चीख-पुकार तथा बौखलाहट से भरे वातावरण में कुछ नेता समय की पुकार पर एकता करने, दल की गौरवशाली परम्परा बनाए रखने और बड़ों की बात सुनने का उपदेश देते रहे।

कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव के लिए जिस सीमा तक हल्के आरोप-प्रत्यारोप हुए, श्रीमती गांधी और कार्यसमिति के पुराने लोगों तक दौड़ें चलती रहीं, वे भी यही स्पष्ट करती हैं कि कांग्रेस का सत्तास्वप्न समाप्त होते ही शायद ज्यादातर कांग्रेसी समझ रहे हैं कि उनका "सब कुछ बीत गया !"

जिन दिनों कांग्रेसी खेमे में यह उखाड़-पछाड़ चल रही थी (और अब तक चल रही है) उन्हीं दिनों नया लोकतांत्रिक दल सम्पूर्ण निष्ठा और विश्वास के साथ देश को स्थायी प्रशासन देने की लगभग सम्पूर्णता पा चुका था। पहली मई, १९७७ को जनता पार्टी के प्रथम महाधिवेशन में जनसंघ, संगठन कांग्रेस,

भारतीय क्रांतिदल, सोशलिस्ट पार्टी और कांग्रेस फार डेमोक्रेसी ने अपने-आपको 'जनता पार्टी' में विलीन करते हुए अपना-अपना पृथक् अस्तित्व समाप्त कर लिया। उन्होंने सर्वसम्मति से युवा नेता श्री चन्द्रशेखर को अपना अध्यक्ष चुना। जनता पार्टी की लोकतांत्रिक नीतियों तथा कार्यक्रमों का विवरण देते हुए विद्रोही युवा नेता चन्द्रशेखर ने जनता को विश्वास दिलाया कि पार्टी देश में सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन का अस्त्र बनेगी।

जनता पार्टी के कई लोगों से बातचीत में मैंने महसूस किया कि वे कांग्रेस में चुनाव के उपरान्त हो रही गुटबन्दी और छीछालेदर से न सिर्फ दुखी हैं, बल्कि निराश हुए हैं। एक नेता ने तो यहां तक कहा कि "कांग्रेस दल भीतरी तौर पर कुछ गुमटियां[1] बनकर रह गया है और ये गुमटियां न केवल दल के अपने लिए घातक हैं, बल्कि देश के लिए भी घातक हैं, क्योंकि हम लोग (जनता पार्टी — भ्रमर) कांग्रेस से एक बढ़िया विरोधी दल की आशा करते थे, ताकि उसके विचारों से भी प्रशासन लाभान्वित हो। इसके विपरीत हम लोग देख रहे हैं कि कांग्रेस केवल एक-दूसरे की टांग खींचने का अखाड़ा बन गया है।"

एक और तरह लगभग यही बात जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री चन्द्रशेखर के उस अनुरोध में भी दीखती है, जो उन्होंने कांग्रेस दल से किया। ४ मई को उन्होंने कहा—"कांग्रेस को चाहिए कि वह अपनी गलतियां स्वीकार करे और जनसेवा की दृष्टि से लोकतांत्रिक संगठन के रूप में राष्ट्रीय राजनीति में भाग ले। कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं के अनुसार उनकी पार्टी में 'आत्म-परीक्षण' हो रहा है, लेकिन उसका वास्तविक प्रमाण कहीं देखने को नहीं मिलता। कुछ व्यक्ति और प्रभावशाली व्यक्ति पुराने ढंग की राजनीति में ही व्यस्त हैं। इस बात का भी कोई संकेत नहीं है कि उन्हें अपने किए-कराए पर पश्चात्ताप हो रहा है, यदि उन्होंने अपना यही रुख जारी रखा तो वह देश और पार्टी के लिए—जिसका कि देश की प्रतिबिम्ब प्रगति में योगदान कम नहीं होगा—अच्छा नहीं होगा।"

---

१ गुमटियां : ऊबड़-खाबड़ धरती में जहां-तहां छितरे हुए छोटे-छोटे टीले, जो न सिर्फ भद्दे दीखते हैं, बल्कि अनुपयोगी भी होते हैं। गुमटियों वाली खेतरतीब धरती पर फसलें पैदा नहीं हो सकतीं।

दूसरी आज़ादी : कुछ खतरे

तानाशाही की वर्बरता का देश ने खूब ज़ायका ले लिया है। कभी-कभी लगता है कि एक पहलू से यह अच्छा ही हुआ है। ऐसा न होता तो संभवतः हम उस अधकचरेपन में ही 'शुभ' की कल्पना-स्वप्न संजोए रहते, जिस कल्पना-स्वप्न में हमने पिछले तीस वरसों में पूरी एक पीढ़ी गंवा दी। शायद सत्ता पर बैठे लोग नारों से हमें ठगते रहते और मानसिक-आर्थिक शोपण की प्रक्रिया उसी तरह चलती जाती। हमने एक नई चेतना और नये विश्वास को पाया है। भारतीय जनमानस ने ज़वरदस्त वहुमत देकर एक वार पुनः लोकतंत्र को पुनर्जीवित कर दिया है, किन्तु कई वार 'शुभ' भी अन्धविश्वास वन जाता है। जैसाकि वयोवद्ध जननेता आचार्य कृपलानी ने जनता पार्टी के विशाल वहुमत में आने के वाद हुई आम सभा में कहा था कि "राजनेता सामान्य मनुष्य होता है और उसमें वे सारी कमजोरियां होती हैं, जो एक मनुष्य में होती हैं, अतः उसपर अंकुश रहना चाहिए। उसे अन्धविश्वास सौंपकर 'देवता' वनाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।" एक यथार्थवादी विश्लेपण है।

१६७१ के आमचुनाव में लगभग यही विश्वास देकर श्रीमती गांधी और उनकी कांग्रेस को भारतीय मतदाता ने विजयश्री दी थी, पर जव यही विश्वास अन्धविश्वास में वदल गया तो यह विजयश्री अंध सत्ताशक्ति के आधार पर तानाशाही में परिवर्तित हो गई। पिछले ३० वर्षों के कांग्रेस-काल में यदि जनता ने कांग्रेस के प्रति 'केवल विश्वास' रखा होता, उसे अंधविश्वास न वनने दिया होता, तो इन्दिराजी अपने व्यक्तिवाद को तानाशाही की ओर न ले जा पातीं और न ही त्रस्त भारतीय जन-मन को आज़ादी की दूसरी लड़ाई लड़नी पड़ती। श्रीमती गांधी का सत्ताकाल, विशेप रूप से आपातकाल, एक शिक्षा है भारतीय लोकतंत्र और जनमानस के लिए—अगर उससे इतिहास रूप में जानकर सीखा-समझा जा सका तो कहीं ज़्यादा अच्छा होगा।

सहज मानवीय कमज़ोरियों के लिए मात्र दोप देते रहने से काम नहीं चलेगा, वल्कि कहीं ज़्यादा अच्छा होगा, गाहे-वगाहे उन कमज़ोरियों की ओर अपनों का और अपना ध्यान दिलाते रहना। मतदान करके ही मतदाता अपनी ज़िम्मेदारी से मुक्त नहीं हो जाता, वल्कि उसपर एक वड़ी जिम्मेदारी होती है, यह देखना कि उसके मतदान से विजयी हुआ उसका

प्रतिनिधि, या प्रतिनिधि दल क्या कर रहा है। यह ऐसी ही सामान्य प्रक्रिया है, जैसे परिवार के मुखिया को परिवार-जनों का सहयोग-सलाह और अंकुश समय पर मिलते रहना। एक परिवार से लेकर सम्पूर्ण राष्ट्र तक यह सहज प्रक्रिया चलती है। इस प्रक्रिया का अंग बने रहना न केवल परिवार, समाज स्तर पर अनिवार्य है, बल्कि लोकतंत्र की सुरक्षा की पहली शर्त है।